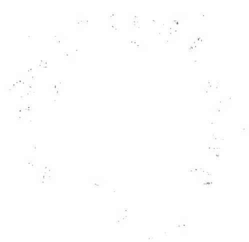
डायरी के उड़ते पृष्ठ

डा. राम अवध शास्त्री

डायरी के उड़ते पृष्ठ

(ललित निबन्ध)

डायरी के उड़ते पृष्ठ



डॉ० रामअवध शास्त्री

कंचन पब्लिकेशन
१६८/५८ रमेश मार्केट, ईस्ट ऑफ कैलाश
नई दिल्ली-११००६५

मूल्य : अस्सी रुपये (Rs. 80/-)

कंचन पब्लिकेशन, १९८/५८ रमेश मार्केट, ईस्ट ऑफ कैलाश,
नई दिल्ली-११००६५, द्वारा प्रकाशित तथा सुपर प्रिंटिंग सर्विस,
अरविंद नगर, घौंडा, दिल्ली-५३ से मुद्रित ।

DIARY KE URTAY PRISHTH (Personal Essay)
by Dr. Ram Awadh Shastri, 1993

प्रख्यात कथाकार तथा लखनऊ
के महानागरिक, पद्मभूषण
पण्डित अमृतलाल नागर को सादर

अनुक्रम

१

२

वाङ्मुख

'डायरी के उड़ते पृष्ठ' के निबंधों की भावभूमि मेरे अन्य निबंधों से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें मेरे 'स्व' का प्रकाशन हुआ है। अभी तक दूसरों की आलोचना करता रहा हूं और जब आइने के सामने अपने चेहरे को देखने का प्रयास किया तो आइने पर ही शक होने लगा और पता चला कि अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को ईमानदारीपूर्वक उरेहना कितना कठिन है। इस प्रक्रिया से जो कुछ बन सका है, उसे पाठकों के हाथ नम्रता-पूर्वक सौंप रहा हूं। विश्वास है मेरी अन्य रचनाओं की तरह इस रचना को भी पाठकों का स्नेह प्राप्त होगा।

जिन मित्रों और पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों ने समय-समय पर मेरे आलसी मन को उकसा कर 'डायरी के उड़ते पृष्ठ' के निबंधों को लिखाया है, उनका हृदय से आभारी हूं।

अमरोहा —रामअवध शास्त्री
२६ जनवरी १९८२

मानवता का इतिहास संघर्षों का इतिहास है और यही हमारी डायरी है। उसके प्रत्येक चरण इसके पृष्ठ हैं जिन्हें उड़ा रहा हूं। लोगों को पढ़ने के लिए विवश कर रहा हूं। यह जानते हुए कि आज का मनुष्य केवल सुनहले भविष्य की कामना करता है।.........

इतिहास जीने की प्रेरणा देता है, जीने की कला सिखाता है, जीवन को उन्नत बनाता है, इसलिए वह जीवन की धुरी है।.......जो जाति अपने इतिहास से परिचित नहीं होती, ऐतिहासिक प्रगति का मूल्यांकन नहीं करती, उसका पतन हो जाता है।.........

यदि जीना है, शान के साथ जीना है तो हमें अपने इतिहास को पहचानना होगा, उसके पृष्ठों को पलटना होगा, उसकी घटनाओं से जीवन की संगति बैठानी होगी।.........

डायरी के उड़ते पृष्ठ

डायरी तो लिखता नहीं फिर पन्ने कैसे उड़ सकते हैं? और लिखता तो उन्हें उड़ने के लिए नहीं छोड़ता। डायरी उड़ाने के लिए नहीं संजोने के लिए लिखी जाती है और मैं उन्हें उड़ा रहा हूं। दूसरों को पढ़ने के लिए विवश कर रहा हूं। आदतों के संकेत पर नाच रहा हूं। आदतें छूटती नहीं, इसलिए ऐसी आदत डालनी चाहिए कि कोई आदत न पड़े। मैं तो निकम्मा हूं। इसलिए नहीं कि कोई काम नहीं करता, करता हूं, खूब करता हूं, पूरी शक्ति से करता हूं, फिर भी निकम्मा। कमाऊं पूत नहीं हूं। जो काम करता उससे पैसा नहीं मिलता, रोटी चलती है।

लोग कहते हैं, पेट तो जानवर भी पाल लेते हैं और मैं जानवर से भी गया बीता हूं। बात मेरी समझ में नहीं आती। जनवर मैं हूं अथवा वे जो मुझे जानवर समझते हैं अथवा हम दोनों। भ्रांति हो जाती है। ऐसी भ्रांति बिहारी की एक नायिका को चन्द्रमा से हो गई थी। बिचारी बावरी थी। गांव वाले कहते थे कि चन्द्रमा शीतल है, सुखकर है और नायिका को दुखकर ज्वाला का पुंज लगता है। वह समझ नहीं पाती कि विरहवश वही पागल हो गई है अथवा गांव वाले।

हौं ही बौरी विरहवस, कै बौरो सब गांव।
कहा जानि ये कहत हैं, ससी सीतकर नांव॥

यही स्थिति मेरी है, मैं जानता हूं कि मनुष्य भी जानवर

है, लेकिन जब एक जानवर बलपूर्वक दूसरे को जानवर कहता है तो उसका विशेष अर्थ होता है। क्या होता है, मालूम नहीं। मस्तिष्क चकरा उठता है। कैसे कह सकता हूं कि हे जानवरों! तुम भी जानवर हो, केवल मैं ही नहीं। मैं तो सभ्य हूं, समझदार हूं और तुम, जाहिल, गंवार! कौन समझाने जाय, कौन समझेगा? संस्कृत के विद्वान् समझाते-समझाते हार गये, लेकिन जानवरों का विवेक नहीं जागा तो मैं देशी भाषा में देशी लोगों को कैसे समझा सकता हूं। विदेशी भाषा जानता नहीं। जानता तो हूं, पर जानने का दम्भ नहीं भर सकता। डरता हूं। पहले डाक्टर राममनोहर लोहिया ने डरा दिया था और अब स्वयं अपने विवेक से डरता हूं। डरने की कोई सीमा नहीं। डरने वाले को ही डराया जाता है। डरने के अनेक साधन हैं। बचपन में भूत, बाल्यावस्था में ताड़ना, किशोरावस्था में संरक्षकों की धमकियां, प्रौढ़ावस्था में कानून और अराजकता आदि। समयानुसार भय के और भी साधन जन्म ले लेते हैं। मुझे इसका कड़वा अनुभव है। मैं भी इन्हीं उपकरणों से डराया गया हूं और आज भी डराया जा रहा हूं क्योंकि डरता हूं। शायद डरना ही मनुष्य का स्वभाव बन गया है।

पश्चिमी विद्वान् मैकडूगल ने मानव स्वभाव की जिन चौदह जन्मजात प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है उनमें एक भय भी है। मनुष्य इसलिए भागता है कि वह डरता है। डरने वाले भागते हैं। भगवान् शिव भी एक बार डर गए थे। तीनों लोक में उन्हें कहीं छिपने का स्थान नहीं मिला। वे भस्मासुर को दी गई अपनी ही शक्ति से कांप रहे थे, पर जब उन्हें समझाया गया, उनका विवेक जागा तो उनका भय समाप्त हो गया। उन्हें सुख मिला क्योंकि उन्हें डरने की आदत नहीं थी और मनुष्य को डरने की आदत पड़ गई है। आदतें बनती-बिगड़ती रहती हैं। उनके छूटते ही भय समाप्त हो जाता है। आदमी शेर क्या सवा सेर हो जाता है। कहने का अभिप्राय है, यहाँ जो कुछ है, उसकी क्रिया है, उसमें उतार-चढ़ाव है। उसे अच्छे-बुरे दिन देखने पड़ते हैं। कोई इससे मुक्त नहीं हो सकता।

भारतीय आचार्यों को इस तथ्य की गहरी जानकारी थी। उनका अनुभव क्षेत्र व्यापक था। उनके चिंतन का अधिकांश समय इसकी मीमांसा में व्यतीत हुआ है। उनका निष्कर्ष रहा है कि काल शाश्वत है, हम नश्वर हैं। इच्छा बूढ़ी नहीं होती, हम बूढ़े हो जाते हैं। भोग

समाप्त नहीं होता, भोगी समाप्त हो जाते हैं। इन सबका आधार है परिवर्तन। अन्तर इतना है कि हम सच्चाई से मुकरते हैं। महाभारत में यक्षराज ने युधिष्ठिर से अनेक प्रश्न किये थे, उनमें एक दुनिया का सबसे बड़ा आश्चर्य भी था। आज का आदमी होता तो न जाने कौन-सा उत्तर देता। सम्भवतः दुनिया के सभी आश्चर्यों को गिना जाता। ये सभी आश्चर्य स्थूल हैं। इनमें परिवर्तन सम्भव है। ये काल की सीमा से मुक्त नहीं हैं। नश्वर हैं। नश्वर चीजें दुनिया का आश्चर्य नहीं बन सकती। धर्मराज के उत्तर का अभिप्राय सूक्ष्म और शाश्वत था। सामान्य जन के अनुभव का विषय था। देह के विनाश को सभी ने देखा है। प्रत्येक दिन प्राणियों का अन्त होता है, लेकिन शेष स्थिर रहने की कामना करते हैं। सामाजिक जीवन के राग-द्वेष में लिप्त रहते हैं। इससे बढ़कर दुनिया का कौन-सा दूसरा आश्चर्य हो सकता है? जीव है तो जीवन है और जीवन है तो उसका अन्त निश्चित है। यही जगत् का सत्य है। परिवर्तन की यही धुरी है। दूसरे शब्दों में परिवर्तन ही सत्य है। वही जगत् का नियामक है। उसकी गति के रुकते ही जगत् की क्रियायें रुक जाती हैं। हे परिवर्तन देव! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं से जगत् की सृष्टि है, उत्थान है, पतन है। तुम्हारा माहात्म्य त्रिदेव का माहात्म्य है। तुम त्रिगुणात्मक हो। महाचित के सहोदर हो। तुम्हें प्रणाम है।

गति ही जीवन है और परिवर्तन गति का द्योतक है। गति अवरोध मृत्यु है। हम मृत्यु से डरते हैं, इसलिए भागते हैं अर्थात् चलते हैं। गौतम बुद्ध संसार को चैतन्य देखना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपने शिष्यों को निरन्तर चलते रहते का उपदेश दिया था। आज का मनुष्य उस मनीषी को भूल गया है। उसकी शिक्षाओं को नमस्कार कर लिया है। उसकी शक्ति समाप्त हो चुकी है, गति रुक गई है, ज्ञान पंगु पड़ गया है, बुद्धि बासी हो गई है, उत्साह थक गया है, मन के घोड़े अनियंत्रित हो चुके हैं और व्यक्ति निष्क्रीय हो चुका है। वह भारस्वरूप जीवित है, जानवर बन गया है।

भारतीय विद्वान् प्रारम्भ से ही परिवर्तन के माहात्म्य से पूर्ण परिचित थे। वे जानते थे कि आज जो वस्तु जिस रूप में है, कल वैसी नहीं रहेगी। उसका रूप बदलेगा। उसकी उपयोगिता में उतार-चढ़ाव आयेगा। इसलिए उसके मूल्यांकन का निष्कर्ष क्षणिक होगा।

उसका स्थिर मूल्य नहीं कूता जा सकता। इसका श्रेष्ठ उदाहरण पण्डितों द्वारा दिया गया मनुष्य और जानवरों का अन्तर है। बहुत से तत्व दोनों में समानरूप से पाये जाते हैं। अन्तर केवल ज्ञान का है। मनुष्य के पास ज्ञान है, पशु इससे वंचित होता है। भूख, प्यास, निद्रा और काम सभी में समान रूप से पाये जाते हैं। ज्ञान ही दोनों को विभाजित करता है। अज्ञान की अवस्था पशुता का सूचक है। पशु केवल जीता है, अपने ही बारे में सोचता है। समाज से उसका कोई संबंध नहीं, वह भय मुक्त है। समाज में रहना भय को बटोरना है, भय से जूझना है, संघर्ष करना है। समाज के लिए संघर्ष अनिवार्य है। संघर्ष ही जीवन है। पशु जीने के लिए संघर्ष नहीं करते और मनुष्य बिना संघर्ष के जीवित नहीं रह सकता। विकास के लिए संघर्ष आवश्यक है। जिस देश की जनता संघर्ष नहीं करती, जूझना नहीं जानती, खतरे से नहीं खेलती, वह देश मर जाता है। वहां के निवासी कायर हो जाते हैं। उनका विकास रुक जाता है। दुनिया की दौड़ में पिछड़ जाते। आधुनिक दुनिया के देशों के विकसित होने का कारण उनका जुझारुपन है। यदि उन्हें खतरे से खेलने की आदत न होती तो वे समुद्र की छाती को चीरते हुए दुनिया के कोने-कोने में नहीं पहुचते। उनका देश भौतिक साधनों से पूर्ण नहीं होता और वे जीने की कला में आगे न होते।

हमारे एक मित्र का कहना है कि संतोष दुःख का कारण है। जब यह वाक्य पहली बार सुना तो एक झटका-सा लगा। मित्र के विवेक पर हंसी आयी और जब गम्भीरतापूर्वक विचार किया तो उसका वाक्य खरा सोना निकला। सचमुच संतोष प्रगति के लिए बाधक है। विकास कार्य को रोकता है। भारत का आज की दुनिया में विशेषकर भौतिकता के क्षेत्र में जो पतन हुआ है, उसका कारण संतोष है। हमने सदियों से अपने आपको संकुचित करने में ही गौरव का अनुभव किया है। साधनों की उपेक्षा कर जीने की कला के आविष्कार में ही शक्ति का दुरुपयोग किया है। पश्चिम में जो प्रगति हुई है उसका कारण कभी न समाप्त होने वाली भूख है; यह भूख आवश्यकताओं की भूख है और जीने की कला की भूख है। भूख जितना ही अधिक होती है, प्रयास उतना ही अधिक होता है। भारतीय भूख को दबाने में लगे रहे और पश्चिमी भूख को बढ़ाने में। वे भौतिक साधनों से सम्पन्न होते गये और हम उनके आश्रित। हमें उनके सामने हाथ फैलाने में ही

सफलता मिली। जीने की कला में हम पिछड़ गये।

मानवता का इतिहास संघर्षों का इतिहास है और यही हमारी डायरी है। उसके प्रत्येक चरण इसके पृष्ठ हैं, जिन्हें उड़ा रहा हूं। लोगों को पढ़ने के लिए विवश कर रहा हूं। यह जानते हुए कि आज का मनुष्य केवल सुनहले भविष्य की कामना करता है। प्रयास से घबड़ाता है। बुनियादी सिद्धान्तों पर विचार नहीं करता। इसके लिए उसके पास अवकाश नहीं। उसकी स्थिति उन अंधों की है जो हाथी को स्पर्श कर, उसका आकार निश्चित कर रहे थे। मुझे भी इस संदर्भ में कोई जानकारी नहीं थी, लेकिन गुरुजनों ने समय पर बता दिया और आज मेरा मस्तिष्क उसे पुष्ट कर रहा है। जो जाति अपने इतिहास से परिचित नहीं होती, ऐतिहासिक प्रगति का मूल्यांकन नहीं करती, उसका पतन हो जाता है। कोई भी जाति अपना इतिहास नहीं बिगाड़ना चाहती। हम भारतीय भी नहीं, जहां जन्म और मृत्यु का खेल खेला जाता है। हम प्रारम्भ से ही अपने इतिहास के प्रति जागरुक रहे हैं। उसे कल्पनाओं का रस देकर युगानुरूप बनाते रहे हैं और घटनाओं का प्रस्तुतीकरण इस प्रकार करते रहे हैं कि एक का अनेक से तादात्म्य हो सके। इसी प्रयास के कारण अनेक आघातों के बाद भी हिन्दू संस्कृति सुरक्षित रह सकी है।

भारतीय विद्वान् प्रारम्भ से ही सत्ता के विकेन्द्रीयकरण में विश्वास करते रहे हैं। त्रिदेव की कल्पना इसका प्रमाण है। जिन लोगों ने इस मान्यता को ठुकरा कर सत्ता का केन्द्रीयकरण करना चाहा है, उनका पतन हुआ है। हमारे पुराण इसके साक्षी हैं। पुराण ही हमारे प्राचीन इतिहास ग्रन्थ है। यही हमारी चेतना के मेरुदण्ड हैं। इन्हीं में भारतीय इतिहासकार की आत्मा सुरक्षित है।

भारतीय जीवन में कोई भी घटना स्वतः नही घटती, उसके कारण होते हैं। परिश्रम करने के बाद भी हम जैसा फल चाहते हैं आवश्यक नहीं कि हमें वैसा ही फल मिले और यह भी सत्य है कि हम जैसा फल चाहते हैं वैसा ही मिलेगा। अच्छा-सा विरोधाभास है। बात सहज ही समझ में नहीं आ सकती। इसके पीछे एक भारतीय विश्वास-पुर्नजन्म और कर्मफल का सिद्धान्त—छिपा हुआ है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित कर्म होता है और उसके फल का वही भोक्ता होता है। इसके लिए उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है, कर्मचक्र, जो एक

बार प्रारम्भ हो गया तो निरन्तर चलता रहता है और सृष्टि के संहार के बाद भी उसका फल बीज रूप में सुरक्षित रहता है। उसी के अनुसार नई सृष्टि की संरचना होती है।

येषां ये यानि कर्माणि प्राक सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥

भारतीय इतिहास-लेखन पर इस सिद्धान्त का गहरा प्रभाव है। इसकी जानकारी न होने के कारण ही विदेशी इतिहासकारों ने विशेषकर पार्जिटर और मैकडानेल ने पुराणों को इतिहास ग्रंथ मानने से इंकार कर दिया है और घोषणा की है कि प्राचीन भारत ने हमें इतिहास ग्रंथ नहीं दिये हैं। फिर भी इन विद्वानों ने पुराणों को आधार मानकर प्राचीन भारत के, जिसे आधुनिक इतिहासकार प्रागैतिहासिक काल कहते हैं, राजनीतिक स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। राजाओं के नाम और उनके राजत्वकाल का निर्धारण किया है। पाश्चात्य विद्वानों की भ्रांति का कारण उनकी ऐतिहासिक दृष्टि है जिसके कारण उन्होंने १९वीं शताब्दी में विकसित पश्चिमी देशों की ऐतिहासिक चेतना को आधार बनाया है। जब उनकी कसौटी पर पुराण खरे नहीं उतरे तो उन्होंने उनकी ऐतिहासिकता पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिया। यदि वे भारतीय जीवन-दृष्टि से परिचित होते तो उन्हें ऐसी शिकायत नहीं होती। भारतीय इतिहासकार की दृष्टि स्थूल की तुलना में सूक्ष्म अधिक रही है। इसी कारण उसका मन घटनाओं की तुलना में उसके कारणों में विशेष रमा है। भारतीय विद्वान् उस ग्रंथ को इतिहास नहीं मानते जिससे पूर्नजन्म और कर्मबंधन से मुक्ति नहीं मिलती और पुरुषार्थों की प्राप्ति नहीं होती। उनका आदर्श रहा है—

धर्मार्थ काममोक्षाणामुपदेश समन्वित।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥

पश्चिमी इतिहासकार भी ऐतिहासिक **सामग्री का** विश्लेषण परीक्षण और प्रस्तुतीकरण इस दृष्टि से करते हैं कि वर्तमान का जो

रूप है, उसकी व्याख्या की जा सके। उसमें निहित कर्म के उत्स का आध्यात्मिक और शाश्वत मूल्यांकन किया जा सके। उसकी समस्याओं का वैज्ञानिक समाधान संभव हो सके। इतिहास की इसी शक्ति को देखकर पाश्चात्य दार्शनिक क्रोचे ने इतिहास को समकालीन इतिहास और इतिहासकार को दार्शनिक बताया है।

इतिहास जीने की प्रेरणा देता है, जीने की कला सिखाता है, जीवन को उन्नत बनाता है, इसलिए वह जीवन की धुरी है। उसकी गति वक्र है। उसे काल के संकेत पर नाचना पड़ता है। काल उसका सहोदर भ्राता है। दुनिया के इतिहास में अनेक साम्राज्यों की स्थापना हुई और अनेक विचारधाराओं का अविर्भाव हुआ, परन्तु सभी काल के गर्भ में समा गये। कौन जानता था कि विशाल रोमन साम्राज्य का अन्त होगा, ब्रिटिश हुकूमत का सूर्य डूब जाएगा, गुप्त साम्राज्य का पतन होगा, मुगलों की तलवारों पर जंग लग जायेगा, महावीर और बुद्ध के विचार प्रभावहीन हो जाएंगे, उनके अनुयायिओं की संख्या में ह्रास होगा और वे आन्तरिक कलह के कारण बिखर जायेंगे। लेकिन यह सब हुआ, यही उनकी परिणति थी। परन्तु इतना स्पष्ट है कि जब तक उनमें जैवकीय शक्ति रही और वे जीने के लिए संघर्ष करते रहे तब तक उनका उत्थान होता रहा, प्रतिभा का सूर्य मारुतण्ड की अवस्था प्राप्त करता रहा और जब उन्होंने संघर्ष का रास्ता छोड़ दिया और सुख-सुविधाओं की ओर आकृष्ट हुए तो उनका पतन प्रारम्भ हो गया और वे इतिहास की गोद में समा गये। उनकी कहानी ही शेष रह गई।

यदि जीना है, शान के साथ जीना है तो हमें अपने इतिहास को पहचानना होगा। उसके पृष्ठों को पलटना होगा। उसकी घटनाओं से जीवन की संगति बैठानी होगी अन्यथा प्रयास करने के बाद भी हम पशु बने रहेंगे। पशु न तो इतिहास बनाता है और न इतिहास द्रष्टा होता है। यदि मनुष्य अपने इतिहास से प्रेरणा नहीं ग्रहण करता, उसकी प्रवृत्तियों का मूल्यांकन नहीं करता तो वह पशु है, जाहिल है, गंवार है। इसी ऐतिहासिक चेतना को संस्कृति के पण्डितों ने ज्ञान कहा है और मनुष्य तथा पशु को विभाजन की रेखा के रूप में स्वीकार किया है। मनुष्य इस चेतना से परिचित होता है, इसलिए मनुष्य है और जानवर अनाड़ी होता है, इसलिए जानवर है। हमें अनाड़ीपन से मुक्त

होना है। जाहिलपन को नमस्कार करना है। इन दोनों महारोगों से एक ही साथ छुटकारा पाना है। तो आइए संगठित होकर इनका सामना करें और अज्ञानता के महोदधि में प्रकाश के लिए डुबकी लगायें। अपने इतिहास का एक बार फिर मूल्यांकन करें और जीने की कला में निष्णात बनें। अपने परिवेश को समान भाव से भोगें।

बादलों का देश

बहुत दिनों बाद आज पुनः 'कुमार संभवम्' पढ़ने को मिला। वैसे तो बहुतों ने इसे पढ़ा होगा यदि मैंने पढ़ लिया तो कोई नई बात नहीं हुई। यदि हुई है तो इसके संदर्भ में उठने वाले विचारों के तौर-तरीके में। किताब मेरे सामने खुली है और मैं पढ़ रहा हूं—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वा परौ तोयनिधि बगाह्य
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।

न जाने कब इन पंक्तियों को छोड़कर मेरा मन हिमालय की गहन कंदराओं में जा पहुंचा जिसकी विराटता को देखकर महाकवि ने इसे पूर्व और पश्चिम समुद्र के बीच स्थित पृथ्वी के मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया है। अभी हाल ही में हिमालय घूमकर आया हूं। मुझे नहीं मालूम कि कालिदास को हिमालय में कौन-सी खूबसूरती नज़र आयी जिससे प्रेरित होकर उन्होंने एक अच्छा-सा मनोहरी चित्र खींचा है। जिन लोगों का परिचय कालिदास और उनके साहित्य से होगा वे तो निःसंकोच भाव से कह सकते हैं—देवदारु की पंक्तियां, गंगा का प्रपात, वन-सम्पदा और दीर्घकाल तक मन पर छाई हुई उसकी हरियाली, उत्तुंग शिखर और उस पर बैठी हुई बंदरों जैसी हिमराशि। सच बात तो यह है कि इनमें से कोई भी सौन्दर्य मुझे उतना आकर्षित न कर सका जितना करना चाहिये था अथवा जितने की संभावना थी। भले ही

आप इसे मेरी जड़ता मान लें अथवा मेरे हृदय को शुष्क बता दें। इसका मुझपर कोई असर नहीं पड़ता। हां, हिमालय-परिभ्रमण के समय एक सौंदर्य ने अवश्य ही मुझे आकर्षित किया और आकर्षित करता रहा, जिस ओर शायद ही किसी का ध्यान गया हो। संभव था, उस ओर मेरा भी ध्यान न जाता, यदि बचपन में मुझे कुछ विशेष प्रकार की कहानियां सुनने को न मिली होती।

□

वैसे तो बचपन में अनेक प्रकार की कहानियां सुनने को मिलीं। लेकिन अब उनमें से कुछ ही कहानियां याद हैं, अधिकांश भूल गई हैं। जो याद हैं उनमें से एक, आज मेरे मन को इस प्रकार कुरेद रही है कि कुछ मत पूछिए। मन हौले-हौले लहराता है और मेरा बौद्धिक मस्तिष्क हिमालय को देखकर बार-बार उस सत्य को स्पर्श करना चाहता है जिसे मेरे पिता ने बचपन में बताया था। कहानी थी बादलों के घर की। जब कभी मैं अपने पिताजी से पूछता—आकाश में जो नीली-नीली दीवार है उसके पीछे क्या है ? तो वे दृढ़ शब्दों में बहुत ही विश्वास के साथ उत्तर देते—"भगवान् जी, सात बादलों की तह में रहते हैं।" और फिर क्या है ? जब मैं पूछता तो जवाब मिलता—"बादलों का घर, जहां वे विश्राम करते हैं।" कहानी में न तो दम है, न आकर्षण, फिर भी इसका महत्व है। इसके पीछे रूढ़ियों से ग्रस्त एक ग्रामीण ब्राह्मण की भावनाएं छिपी हुई हैं। संभव था यदि मुझे भी उचित शिक्षा-दीक्षा न मिली होती तो इस उत्तर से कोई आपत्ति नहीं होती और जब मेरे लड़के—वीरांश और विक्रांत—मुझसे यही प्रश्न करते तो मैं भी संभवतः निर्भीकता पूर्वक यही पैतृक उत्तर दे देता, परन्तु अक्षर होने के कारण आज यह संभव नहीं है और मेरा मन बार-बार प्रश्न और उत्तर के परिवेश में अनेक तर्क-वितर्क करता है। फिर भी सात बादलों की तह में रहने वाले भगवान् और उनके अंग-रक्षक बादलों के घर की बात मेरे बौद्धिक मस्तिष्क में नहीं समा पाती और मेरा शंकालु मन भीतर ही भीतर कूढ़ने लगता है। और आज, जब मैं हिमालय के शिखरों को नीले आकाश से बातें करते हुए तथा उसके पैरों तले रंग-बिरंगे बादलों को नाक रगड़ते हुए देखता हूं तो मुझे सात

बादलों की तह में रहने वाले भगवान् की स्थिति का कुछ-कुछ आभास मिलने लगता है और मैं हर्षित होकर हिमालय के उस सौन्दर्य को बार-बार निहारने लगता हूं। मेरे अन्तरमन पर कालिदास की तरह एक बार फिर हिमालय का सिक्का बैठ जाता है। लेकिन हिमालय का वह स्वरूप अब भी मेरे मस्तिष्क में समा नहीं पा रहा है जिससे प्रेरणा ग्रहण करके कालिदास ने हिमालय का चित्ताकर्षक वर्णन किया है। लेकिन जब कालिदास और अपनी दृष्टि-भेद के कारणों पर विचार करता हूं तो लगता है काल और काल-बोध ही दृष्टि-भेद का कारण है। आखिर काल का भी तो महत्व है। उसके प्रभाव से कौन बचा है? सभी को उसके सामने नतसिर होना पड़ा है और जो नत नहीं हुए वे असामान्य हैं, और जो असामान्य हैं, वे हमारे चिंतन की सीमा से परे हैं। हम मनुष्य हैं, वह भी सामान्य। परिस्थितियों की लपेट में आते-जाते हमारी आदतें कुछ इस प्रकार की बन गई हैं कि हम उन्हें चाहकर भी नहीं छोड़ सकते और यदि किसी प्रकार छोड़ दें तो जीवित नहीं रह सकते, जबकि हम अपने संपूर्ण दुःखों के साथ जीना चाहते हैं। उसी में हमें आनन्द आता है। इसी कारण हमने अपने से भिन्न को महात्मा और परमात्मा की संज्ञा देकर उन्हें नमस्कार कर लिया है। उनके श्रेष्ठ गुणों को जिनसे मानवता बलवती हो सकती है और मनुष्य अपनी कमजोरियों पर विजय प्राप्त कर सकता है, छोड़ देते हैं। उनके उपदेशों को आर्षवाक्य बताकर पोथियों के बंडलों में कैद कर देते हैं। यह बात दूसरी है कि स्वर्ग का कोना झांकने के लिए कभी-कभी उनका पाठ कर लेते हैं अथवा सुन लेते हैं। पवित्रता का भाव जताकर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं और एक दिन काल के महत्व को सजीवकर इतिहास का निर्माण करते हैं। हिमालय के लिए काल और इतिहास का महत्व नहीं। काल उसकी सीमा में आकर अपनी प्रभावात्मकता खो देता है। हिमालय कालजयी है, इस कारण वह इतिहास का विषय नहीं हो सकता।

चराचर जगत् में कोई भी दो वस्तुएं समान नहीं हैं। चाहे जीवन हो, रंग हो, भाव हो, अर्थ हो अथवा कल्पना सभी का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। सभी समतारहित हैं। एक दूसरे से भिन्न हैं और इसी भिन्नता में इनका सौंदर्य निहित है। यदि एक ही सौंदर्य चराचर जगत् में मुकुलित हो जाय तो सौंदर्य की गरिमा समाप्त हो जाएगी। अनेक

रूपता में ही सृष्टि का दर्शन होता है। इसी से मूल्य और मूल्यांकन है। मैं मानता हूं कि हिमालय महान् है, भगवान् शिव का निवास-स्थल है, कालजयी है, इतिहास का विषय नहीं, फिर भी वह मनुष्य के अधिक निकट है। मनुष्य में भी महानता के तत्व हैं, उसके हृदय में शिव के आराध्य विष्णु का निवास है, उसमें इतिहास निर्माण की शक्ति है। अंतर केवल इतना है कि मनुष्य ने हिमालय की ऊंचाई देखी है, गहराई नहीं। इसी कारण उसने हिमालय को अपने से भिन्न कर दिया अन्यथा हिमालय भी सामान्य है, बिल्कुल मनुष्य जैसा।

कालिदास ने हिमालय को देवत्मा कहा है। संभव है उन्हें भी मेरी जैसी कोई कहानी मिल गई हो जिसका तत्त्व उन्हें हिमालय में मिल गया हो अथवा हिमालय की ध्यान मग्न मुद्रा, देवदारु की टक-टकी, विभिन्न रंग के बादलों में छिपे रहने की प्रवृत्ति आदि गुणों को देखकर उन्हें सात बादलों की तह में रहने वाले भगवान् की स्थिति का स्मरण हो आया हो और वे हिमालय को देवतात्मा मान लिए हों। वस्तुतः ये सभी गुण देवताओं के हैं और इन्हीं गुणों के कारण वे मनुष्यों द्वारा पूजे जाते हैं। यदि इन गुणों को देखकर कालिदास ने हिमालय को देवतात्मा कहा तो इसे आश्चर्य नहीं मानना चाहिए। ऐसा कोई भी कह सकता है और कईयों ने कहा भी है। यदि हिमालय देवता न होता तो सदियों से मनुष्य उसकी शरण में न आता। पीड़ित गृहस्थों को शांति न मिलती। उसके यहां अन्य देवताओं की तरह खास किस्म के लोगों के लिए ही शरण की व्यवस्था नहीं है। वहां तो सभी का समान भाव से स्वागत है। वह सभी के तापों को दूर कर शीतलता प्रदान करता है। वह मृत्युलोक का देवता है।

लेकिन मुझे लगा कि हिमालय को कालिदास की यह उपाधि रास नहीं आयी। वैसे यह आवश्यक भी नहीं कि उपाधि रास ही आये। जब वह दाता की इच्छा पर निर्भर है तो उसमें ग्रहीता की इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता। हां, यह ग्रहीता पर निर्भर करता है कि वह उपाधि स्वीकारे अथवा नहीं। यदि कालिदास ने हिमालय में देवत्व देखा तो यह उनकी मनसा है और हिमालय ने अस्वीकार कर दिया तो यह उसकी अनिच्छा है। उसने तो बड़े विश्वास के साथ मुझसे कहा था कि मैं देवता नहीं, मनुष्य हूं···बिल्कुल सामान्य मनुष्य। मुझे भी सुख-दुख, सर्दी-गर्मी, का कड़वा अनुभव है। मैं भी

पार्वती को विदा करते समय कण्व की तरह फूट-फूट कर रोया हूं। मेरे नर को नारायण बनाया जा रहा है। यदि मेरे महत्व को अक्षुण्य रखना है तो मुझे मनुष्य की पंक्तियों में बैठाओ और मेरी उपमा उन मनुष्यों से दो जो लाभ-अलाभ की चिंता किये बिना संघर्षरत् रहते हैं।···

जी चाहता है कि हिमालय की इन भावनाओं को जन-जन तक पहुंचा दूं, पर हाय ! वह शक्ति कहाँ से लाऊं ? और यदि मिल भी जाय तो उस पर कान कौन देने को बैठा है ? सभी तो आधुनिकता के नाम पर उधार की जिंदगी जीते-जीते थककर चकनाचूर हुए बैठे हैं। पलभर की स्वतंत्रता के लिए हजार दुखों की फौलादी दीवारों से टकरा-टकराकर उनका सिर लहू लुहान हो गया है फिर भी पिनक के दीवाने ! ऐसे दीवानों के पास समय कहां, शक्ति कहां कि वे हिमालय अथवा हिमालय सरीखों के विचारों को सुने और समझे। ऐसों से कुछ कहना और सुनना बेमाने है तो क्यों न किसी के हाथ हिमालय के पास ही संदेशा भेज दूं कि बंधु यदि तुम्हें देवतात्मा की उपाधि अच्छी नहीं लगी तो यह तुम्हारा बड़प्पन है अन्यथा तुम्हारी महत्ता और गुण-वत्ता के आगे यह उपाधि बहुत छोटी है। मैं तुम्हारी ईमानदारी और आकांक्षाओं को पहचानता हूं कि तुम भी मेरी तरह जीना चाहते हो।···

···यह सोच ही रहा था कि अचानक जनकोलाहल से मन के घोड़े को चाबुक लग गया और मैं पढ़ने लगा···

यं सर्व शैला परिकल्प वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे···

ऋतुप्रिया का मन उदास है

कवि विद्यापति ने लिखा है—

नवल रसाल मुकुल मधु मातल
नव कोकिल कुल गाय
नव जुवती गन चित उमताअई
नव रस कानन धाय।

नवीन आम्र मंजरियों के मधु से मदमस्त नव कोकिलों का कुल कूक रहा है जिससे नव-यौवनाओं का चित्त उन्मत्त हो रहा है और नवरस का पान करने के लिए कानन की ओर भाग रही हैं। लेकिन आज वसन्त की इस चढ़ी जवानी में भी ऋतुप्रिया का मन उदास है। अति उदास। चित्त के अकुलाने की बात कौन कहे उसमें किसी प्रकार का मनोविकार ही नहीं। उसके लिए वसन्त अधूरा है। उसकी इस मानसिकता से मेरा भी मन उदास हो जाता है। भावनाएं सो जाती हैं। उल्लास कूढ़ने लगता है। आंखों से विश्वास का पानी उतर जाता है। प्रत्यक्ष में अप्रत्यक्ष के चिह्न लक्षित होने लगते हैं। अभी-अभी तो आम्रकुंज से लौटा हूं। वसन्त की सूचना के साथ ऋतुप्रिया की भाव-दशा से ऐसा झटका लगा कि हृदय जवास की तरह सूख गया। गदराई हुई आम्रमंजरियों और उसके रस से छकी हुई कोकिला के पंचम-स्वर से मन लहरा कर विद्यापति के जिस गीत को गुनगुनाने लगा था, अब उसी से गला रुंध गया है। मन का घोड़ा अंधेरे में देखी गई रस्सी की तरह ऐसा अड़ा है कि गरियार बैल बन गया है। मुझे अपनी स्थिति

पर तरस आ रहा है और मन, मन-ही-मन अस्फुट स्वरों में ऋतुप्रिया को कोसने लगता है। ऋतुप्रिया नवयौवना है, सुन्दरी है, रागी है, रंगीली है, भावों की सहचरी है, वैभवशालिनी है। वह दिलीप की तरह किसी की सेवा के लिए संकल्पित नहीं है तो फिर इस भरी जवानी में, रस माधुरी की बेला में यह वैराग्य क्यों ? कौन-सा विषाद है जो विषाद-योग बन कर उसके मन पर छाया हुआ है जिससे उसकी आँखें सुन्दर वस्तुओं के विद्रूप को देखने में अभ्यस्त हो गई हैं। मैं हैरान हूं, मेरा आत्म आन्दोलित है। मेरा शरीर सिहरने लगता है, तभी चेतना बाद के उत्तर की तरह झंकृत हो जाती है। मन निराला का—सखि वसन्त आया—गीत गुनगुनाने लगता है। भावों के नवोत्कर्ष के साथ आँखों के तारे चमक उठते हैं। फिर उसे मैथिल की अमरवाणी से प्रांजलता मिलती है। नया सन्दर्भ सूझने लगता है।

जहं मुगधलि माननि करए मान।
परि पंथहिं पेखए पंचवान।।

परन्तु सौभाग्य सुख मांगने से नहीं मिलता और मिलता तो आधुनिक दुष्यन्तों से ही नहीं बचता। देवताओं के मनोरथ के लिए बिचारा कामदेव चला था पार्वती की सहायता करने और बन गया अनंग। भाग्य का खेल है। उसने जिन पंचशरों का संधान समाधिस्थ शिव को विचलित करने के लिए किया था उनसे काम का मनोरथ तो सिद्ध नहीं हुआ, पर शिव संबोध्य अवश्य हो गये। पूरा खेल ही बिगड़ गया। कामदेव भस्म हो गया। रति विलाप करती रह गई।

अनंग के पंचशरों का प्रभाव भले ही शिव पर न पड़ा हो, पर मेरा मन उनसे अच्छी तरह बिंध गया है। मेरे अनंगक का रग-रग दुखा रहा है और वह अनंगरिक की कृपा से अनंगक बनकर बिहार कर रहा है। अन्यथा आम्रकुंज में जाता ही क्यों ? और जाता तो किसी को बताता ही क्यों ? अब मैं छब्बे की आशा में दुबे बन गया हूं। गुड़ खाया तो कान कौन छिदाऐगा ? हां बाबा, छिदा रहा हूं। जिन पुष्पों को निहार कर आया हूं वे साधारण नहीं हैं। साधारण होते तो उन्हें काम अपने पंचशरों में स्थान नहीं देता। सानिध्य तो पिपीलिका को भी चन्द्रमा तक पहुंचा देता है। फिर फूलों की उत्पत्ति ही मनोजकार्मुक

से हुई है । मैंने ऐसे सुन्दर दैवयोग को निहारने का अपराध किया है । जल्दी में किसी से दिव्य-दृष्टि की याचना नहीं की । वैसे कहना बुरा नहीं, सत्य कहना बुरा होता है और सटीक कहना तो उससे भी बुरा । मैंने सटीक कहा है तो सटीक बयानी का फल उपेक्षित होकर पा रहा हूं । आज का युग सटीक बयानी का नहीं दिव्य दृष्टि का है । सारा झगड़ा कहने-कहलाने का है । जो जैसा कहलाना चाहे उसे वैसा ही कहो, यही दिव्यदृष्टि है । तुम चतुर कहे जाओगे । तुम तेल नहीं, तेल की धार देखते हो । उसके आगे जाना अपराध है । लेकिन वसन्त का असली मजा सटीक बयानी में ही है । वह जोगिरा क्या, जो सटीक न जमें और जिसके ठहाके से मन लहरा न उठे । यह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से ही सम्भव है । आज तो जोगिरा के लिए पूरी स्वतन्त्रता है, पर उसे व्यक्त करने की शक्ति ही समाप्त हो गई है । समाज इतना भयमुक्त हो गया है कि उसके लिए परम्पराओं और मूल्यों का अर्थ ही नहीं रह गया है । सच तो यह है कि भारत गुलाम होकर भी कभी गुलाम नहीं रहा और आज स्वतंत्र होकर भी स्वतंत्र नहीं है । शरीर के हारने से मन कभी नहीं हारता । भारत का मन ऐसा कि हारने को तैयार नहीं होता लेकिन आज वही अपने ही घर में बन्दी का जीवन यापन कर रहा है । ऐसे मन के लिए वसन्त बेमाने हो गया है । जब मनुष्य जेठ की दुपहरी में सपनों का बोझ ढोते-ढोते थककर चकनाचूर हो गया हो तो उसे वसन्त नहीं, गुड़ के एक छोटे टुकड़े के साथ एक लोटा ठण्डा पानी और खर्राटा मारने के लिए भरपूर छाया चाहिए । आज जब कोई प्रेमचन्द के होरी की मानसिकता और भावदशा को समझे बिना उसे रंगीन सपनों का संसार दिखाकर अपना उल्लू सीधा करता है तो मुझे हंसी आती है । क्योंकि ऐसे परिवेश जीवियों के लिए वसन्त अर्थहीन होता है । वसन्त का आकर्षण उनके लिए होता है जिनके पेट में रोटी होती है और मुंह मगही पान की गिल्लोरियों से भरा रहता है ।

आज जब हमारा जीवन आयातित सभ्यता और संस्कृति के जाम में ढलकर लोक संस्कृति और मर्यादा के किनारे लुढ़क गया हो और हम आत्म स्वतन्त्रता के लिए सम्पूर्ण बन्धनों और नैतिक मूल्यों को इस आशय से अस्वीकार कर रहे हों कि आत्म स्वतंत्रता के लिए प्राप्त दुःख चाहे कितना ही दारुण क्यों न हो, दासता एवं परतंत्रता

की छाया में प्राप्त सुख से हजार गुना अच्छा होता है। फिर आज यदि स्वतंत्रता का नासूर भारत की आत्मा को खाए जा रहा हो और पद्माकर की रसीली नायिका नयन नचाने और मुस्कराने के स्थान पर आधुनिक कृष्णों को टेलीफोन पर फिल्म देखने का आमन्त्रण दे रही हो तो इसे आश्चर्य नहीं मानना चाहिए। यह उसका अधिकार है—उसकी आत्मिक स्वतत्रता का अभिन्न अंग। उसे अपनी स्वतंत्रता को भोगने का अधिकार है। इसे उसका अधिकार मिलना ही चाहिए। लेकिन आश्चर्य तब होता है, जब आदमी अपनी स्वतंत्रता के लिए दूसरे की स्वतंत्रता पर घात करता है और स्वतंत्रता को स्वेच्छाचारिता मानकर अपने घिनौनेपन का प्रदर्शन करता है। दूसरे को नीचा दिखाने के लिए नीचता की सीमा का अतिक्रमण करके अपने सोये हुए सामन्ती संस्कार को नये परिवेश और रूप में पुनर्जीवित करने का प्रयास करता है।

जब आधुनिक चिन्तन मोह भंग का नारा दे रहा हो और मनुष्य एक के बाद दूसरी प्रगति की सीढ़ियों को पार करने की होड़ लगाए हुए हो तो परम्पराओं और मूल्यों की बात करना बेमाने लगता है और भाईयों की शब्दावली में बुर्जुआपन। मैं जानता हूं कि हर पुराना अच्छा नहीं होता और यह भी जानता हूं कि पुराने से ही नये की जन्म कुण्डली बनती है। साथ ही यह भी जानता हूं कि प्रत्येक नया न तो उपादेय होता होता है और न अच्छा लेकिन जिनका जीवन ही लोक-संस्कृति और उसकी मर्यादाओं के बीच बीता हो और जिनका संस्कार ही वर्षों की विरासत का धरोहर हो उनका एक ही झटके में प्राचीनता से मोहभंग और नये से साक्षात्कार कैसे कराया जाय? और इसे सम्भव भी किया जाय तो उनकी पीड़ा को कैसे नज़र अन्दाज किया जाय। उस पीड़ा को समझना और स्वीकार करना वसन्त को स्वीकार करना है और नये की होड़ में विस्मृत कर जाना प्रगतिशीलता की निशानी। इस पीड़ा को समझने के कारण ऋतुप्रिया का मन उदास है और उसका दुष्यन्त भरी जवानी में विरागी बन जाता है। पछतावे की आग में झुंझला कर पूरे नगर में मदनोत्सव का निषेध कर देता है। प्रतिक्रियास्वरूप चेतन जड़ बन जाता है और जड़ चेतन। काल जहां का तहां ठहर जाता है।

से हुई है। मैंने ऐसे सुन्दर दैवयोग को निहारने का अपराध किया है। जल्दी में किसी से दिव्य-दृष्टि की याचना नहीं की। वैसे कहना बुरा नहीं, सत्य कहना बुरा होता है और सटीक कहना तो उससे भी बुरा। मैंने सटीक कहा है तो सटीक बयानी का फल उपेक्षित होकर पा रहा हूं। आज का युग सटीक बयानी का नहीं दिव्य दृष्टि का है। सारा झगड़ा कहने-कहलाने का है। जो जैसा कहलाना चाहे उसे वैसा ही कहो, यही दिव्यदृष्टि है। तुम चतुर कहे जाओगे। तुम तेल नहीं, तेल की धार देखते हो। उसके आगे जाना अपराध है। लेकिन वसन्त का असली मजा सटीक बयानी में ही है। वह जोगिरा क्या, जो सटीक न जमें और जिसके ठहाके से मन लहरा न उठे। यह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से ही सम्भव है। आज तो जोगिरा के लिए पूरी स्वतन्त्रता है, पर उसे व्यक्त करने की शक्ति ही समाप्त हो गई है। समाज इतना भयमुक्त हो गया है कि उसके लिए परम्पराओं और मूल्यों का अर्थ ही नहीं रह गया है। सच तो यह है कि भारत गुलाम होकर भी कभी गुलाम नहीं रहा और आज स्वतंत्र होकर भी स्वतंत्र नहीं है। शरीर के हारने से मन कभी नहीं हारता। भारत का मन ऐसा कि हारने को तैयार नहीं होता लेकिन आज वही अपने ही घर में बन्दी का जीवन यापन कर रहा है। ऐसे मन के लिए वसन्त बेमाने हो गया है। जब मनुष्य जेठ की दुपहरी में सपनों का बोझ ढोते-ढोते थककर चकनाचूर हो गया हो तो उसे वसन्त नहीं, गुड़ के एक छोटे टुकड़े के साथ एक लोटा ठण्डा पानी और खर्राटा मारने के लिए भरपूर छाया चाहिए। आज जब कोई प्रेमचन्द के होरी की मानसिकता और भावदशा को समझे बिना उसे रंगीन सपनों का संसार दिखाकर अपना उल्लू सीधा करता है तो मुझे हंसी आती है। क्योंकि ऐसे परिवेश जीवियों के लिए वसन्त अर्थहीन होता है। वसन्त का आकर्षण उनके लिए होता है जिनके पेट में रोटी होती है और मुंह मगही पान की गिल्लोरियों से भरा रहता है।

आज जब हमारा जीवन आयातित सभ्यता और संस्कृति के जाम में ढलकर लोक संस्कृति और मर्यादा के किनारे लुढ़क गया हो और हम आत्म स्वतन्त्रता के लिए सम्पूर्ण बन्धनों और नैतिक मूल्यों को इस आशय से अस्वीकार कर रहे हों कि आत्म स्वतंत्रता के लिए प्राप्त दुःख चाहे कितना ही दारुण क्यों न हो, दासता एवं परतंत्रता

की छाया में प्राप्त सुख से हजार गुना अच्छा होता है। फिर आज यदि स्वतंत्रता का नासूर भारत की आत्मा को खाए जा रहा हो और पद्माकर की रसीली नायिका नयन नचाने और मुस्कराने के स्थान पर आधुनिक कृष्णों को टेलीफोन पर फिल्म देखने का आमन्त्रण दे रही हो तो इसे आश्चर्य नहीं मानना चाहिए। यह उसका अधिकार है— उसकी आत्मिक स्वतत्रता का अभिन्न अंग। उसे अपनी स्वतंत्रता को भोगने का अधिकार है। इसे उसका अधिकार मिलना ही चाहिए। लेकिन आश्चर्य तब होता है, जब आदमी अपनी स्वतंत्रता के लिए दूसरे की स्वतंत्रता पर घात करता है और स्वतंत्रता को स्वेच्छाचारिता मानकर अपने घिनौनेपन का प्रदर्शन करता है। दूसरे को नीचा दिखाने के लिए नीचता की सीमा का अतिक्रमण करके अपने सोये हुए सामन्ती संस्कार को नये परिवेश और रूप में पुनर्जीवित करने का प्रयास करता है।

जब आधुनिक चिन्तन मोह भंग का नारा दे रहा हो और मनुष्य एक के बाद दूसरी प्रगति की सीढ़ियों को पार करने की होड़ लगाए हुए हो तो परम्पराओं और मूल्यों की बात करना बेमाने लगता है और भाईयों की शब्दावली में बुर्जुआपन। मैं जानता हूं कि हर पुराना अच्छा नहीं होता और यह भी जानता हूं कि पुराने से ही नये की जन्म कुण्डली बनती है। साथ ही यह भी जानता हूं कि प्रत्येक नया न तो उपादेय होता होता है और न अच्छा लेकिन जिनका जीवन ही लोक-संस्कृति और उसकी मर्यादाओं के बीच बीता हो और जिनका संस्कार ही वर्षों की विरासत का धरोहर हो उनका एक ही झटके में प्राचीनता से मोहभंग और नये से साक्षात्कार कैसे कराया जाय ? और इसे सम्भव भी किया जाय तो उनकी पीड़ा को कैसे नज़र अन्दाज किया जाय। उस पीड़ा को समझना और स्वीकार करना वसन्त को स्वीकार करना है और नये की होड़ में विस्मृत कर जाना प्रगतिशीलता की निशानी। इस पीड़ा को समझने के कारण ऋतुप्रिया का मन उदास है और उसका दुष्यन्त भरी जवानी में विरागी बन जाता है। पछतावे की आग में झुझला कर पूरे नगर में मदनोत्सव का निषेध कर देता है। प्रतिक्रियास्वरूप चेतन जड़ बन जाता है और जड़ चेतन। काल जहां का तहां ठहर जाता है।

चूतानां चिरनिर्गताऽपि कलिका बध्नाति स्वं रजः,
सन्नद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया ।
कण्ठेषु स्खलितं गतेपि शिशिरे पुंस्कोकिलानांरुतं
शङ्के संहरति स्मरोपिचकितस्तूणार्धकृष्टं शरम् ॥

आम तो बौरा गया है, पर उसमें अभी तक पराग नहीं आ पाया है। कुरबक खिलना ही चाहता था, पर खिल नहीं पाया। ज्यों का त्यों कुङ्मलावस्था में बंधा रह गया। कोयल की राग शिशिर के बीत जाने के बाद भी गले को अवरुद्ध किये हुए है। तूणीर से अध निकाले बाण को काम डर कर फिर तूणीर में रख लेता है। भला इसमें बिचारे वसन्त का क्या दोष ? वह तो मुग्धाओं के मान को खण्डित करके उन्हें पूर्णकाम बनाता है। फिर भी यदि दुष्यन्त पूर्णकाम न बन सका तो यह उसकी नियति है। दोष है, दुष्यन्तों की मानसिकता का जिसमें उन्हें सावन की हरियाली ही दिखलायी देती है। वासना के मद में वे भूल जाते हैं कि इस अप्रतिम सान्दर्य के लिए वनस्पतियों को जेठ की दुपहरी में तपना भी पड़ता है। तो दुष्यन्त को तपना ही चाहिए, उसे तपना ही होगा, उसने एक गर्भवती नारी को लांक्षित किया है और जाने प्रेम को अनजान बताया है। दुष्यन्त वासना के आवेश में शकुन्तला के लावण्य पर आकृष्ट हुआ था। उसने वासना की चहार-दीवारी में प्रेम को समेटकर उसकी मर्यादा को खण्डित किया था जिसका उसे भरपूर फल मिला। दीर्घकाल तक उसे पुत्र और पत्नी के वियोग में तपना पड़ा और जब उसके मन का कलुष तपकर कंचन बन गया तो उसे मरीचि आश्रम में पुनः संयोग सुख की प्राप्ति हुई जिसमें वह पूर्णकाम बनकर, पूर्ण मनोरथी बन जाता है।

भारतीय जीवन में पूर्णकाम के लिए तपना आवश्यक है। भारतीय मनीषियों ने इस सत्य को प्रारम्भ से ही अंगीकार कर अपनी कृतियों में रूपायित किया है परिणामतः उनके चरित नायकों को दीर्घकाल तक विरहाग्नि में तड़पना पड़ता है। पुरुरवा को यदि उर्वशी के लिए तड़पना पड़ा तो पार्वती को शिव के लिए अपर्णा बनना पड़ा। गिरिजा को शिव की प्राप्ति तभी होती है जब वे प्रेम परीक्षा में सफल सिद्ध होती हैं। ब्रह्मचारी शिव ने भवानी के मन-भावन को भला-बुरा कहा तो गौरी को दुःख हुआ और अयोग्य बताया तो रोष उत्पन्न

हुआ। मन तो पहले ही शिव-प्रेम में तपकर एकरस हो चुका था फिर कैसा भय ? कैसा लोकापवाद ? यह तो तप का फल है—पूर्ण काम होने की पूर्णावस्था। राम और सीता के स्नेह सम्बन्ध की स्थिति इन युगल सम्बन्धों से भिन्न रही है। पुष्पवाटिका में उत्पन्न उनका अबोध पूर्ण परिचय तबतक पूर्ण नहीं होता जबतक राम शिव-पिनाक का भंजन नहीं करते और एक दूसरे के वियोग में तपकर एक रस नहीं हो जाते। आज इस सत्य को कैसे समझाया जाय। समझाना तो सरल है, पर समझना ही कठिन है। समझना, समझने वाले के वश में नहीं है। बेवश से कोई आशा नहीं की जा सकती। अन्यथा आज ऋतुप्रिया का मन उदास क्यों होता ? उसे वसन्त अधूरा क्यों लगता ? ऋतुप्रिया की उदासी पृथ्वी की पीड़ा है जिसे भोगने का भाव दबाए जा रहा है और वह कांप रही है, चीख रही है, चिल्ला रही है, पर आज कोई ऐसा कृष्ण नहीं जो उसकी पीड़ा को समझ सके और चीर बढ़ाकर दुःशासन के गर्व को खण्डित कर सके। आज मनुष्य, मनुष्य नहीं व्यवस्था का पुर्जा बन कर जड़ हो गया है और यांत्रिक वासना के इशारे पर नाच रहा है। द्रौपदी की रक्षा कौन करे, उसकी तलाश में पागल बनकर महानगरों की चमचमाहट में खो गया है।

ऋतुप्रिया का मन उदास है क्योंकि उसके प्रति किसी के मन में अनुराग नहीं, श्रद्धा नहीं, उत्कण्ठा नहीं, केवल लोभ और भोग का भाव है। लोभ से वासना को तबतक प्रश्रय मिलता है जबतक उसमें पवित्रता का समावेश नहीं हो जाता। फिर लोभ, लोभ नहीं, प्रेम बन जाता है। ऋतुप्रिया का यौवन मचल रहा है उसे ऐसा भोगी प्रेमी चाहिए जो उसे त्यागने के बाद भी दण्डकारण्य में दो बूंद आंसू बहा सके।

हा हा देवि ! स्फुटति हृदयं, ध्वंसते देह बन्धः,
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि॥

(हा देवि ! हा देवि !! मेरा हृदय टूक-टूक हुआ जा रहा है, शरीर के जोड़ शिथिल होते जा रहे हैं, यह संसार सूना-सा लग रहा

है। निरन्तर सघन शोक की लपटों से भीतर ही भीतर जल रहा हूं, विरह वेदना से पीड़ित अन्तरात्मा अवसन्न-सा होकर गहन अन्धकार में डूबती-सी जा रही है और मूर्च्छा चारों ओर से छाये जा रही है ऐसी स्थिति में मैं हतभाग्य क्या करूं ! क्या करूं !!)

या देवी सर्व भूतेषु

शक्ति पीठ के सामने सिर झुकाते हुए व्याकुल मन से भक्तराज ने कहा, 'मां ! मैं तुम्हारी शरण में हूं, मेरा कल्याण करो । मैं न तो तुम्हारे स्वभाव से परिचित हूं और न तुम्हारी मुद्राओं को जानता हूं । बस इतना ही जानता हूं कि तुम मां हो, तुम्हारा अनुशरण ही मेरा धर्म है । तुम मुझे रूप दो, जय दो, यश दो और मेरे काम-क्रोधादि शत्रुओं का नाश करो । मैं मानता हूं कि मैं अपराधी हूं, अहंकारी हूं, कुपुत्र हूं, पर तुम माता हो··· ·· केवल माता ! माता कुमाता नहीं होती, पुत्र तो कुपुत्र हो ही जाते हैं !'···

मैं दूर खड़ा कभी भक्तराज की मुद्रा देखता हूं तो कभी दर्शन की प्रतीक्षा में व्याकुल बेसुमार भीड़ । सोचता हूं, यह जगदंबिका कौन हैं ? इनका स्वरूप क्या है ? अराधिका के मूड को जाने बिना लोग क्यों अपना दुखड़ा रोये जा रहे हैं । क्या इन्हें आसुओं के विभीषणपन का पता नहीं ? पर हाय, कैसे समझाऊं, किसे समझाऊं, कोई समझने क्या, सुनने को तैयार नहीं । मन छटपटा जाता है । देवी के कुपुत्रों को तो देख लिया है, उनके सुपुत्रों की तलाश में आँखें पसार देता हूं । मैं देखना चाहता हूं उस सपूत को जिसके मन को अंबिका ने फींच-फींचकर निर्मल बना दिया है; मैं देखना चाहता हूं उस सपूत को जिसने अपने तथा मां के स्वरूप को जान लिया है ; मैं देखना चाहता हूं उस सपूत को जिसने काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीत लिया है । मेरी आँखें बेसुमार भीड़ पर तैर जाती हैं । किसे सपूत कहूं ? सभी तो अपने आप को कपूत ही कपूत कह रहे हैं । तो क्या अब कपूतों को ही सपूत कहना होगा ? मैं अपने हृदय को थाम लेता हूं । प्यासी आँखें सर्वेश्वरी की

रूप-साधना में ध्यानावस्थित हो जाती हैं, तभी पास का भक्त चिल्ला उठता है···या देवी सर्व भूतेषु···। ध्यान उचट जाता है। क्या कहा ! बुद्धि रूपेण संस्थिता···। हां, बुद्धिरूपेण संस्थिता। मैं बुद्धि के घोड़े को दौड़ाकर इतिहास के खंडहरों में विलीन हो जाता हूं। अतीत मेरे सामने पांवड़े बिछा देता है। ऐतिहासिक दृश्य सजीव हो उठता है।



'···लंका के युद्ध-शिविर में राम बानरी सेना के साथ खिन्न मन बैठे हैं। उनके सामने पूरी सेना नतमुख है। उनके चारों ओर घना अंधकार मूसलाधार बरस रहा है। रावण को पराजित करने के लिए उन्होंने आज पूरी शक्ति से युद्ध किया है, पर उनके सभी बाण प्रभाव-हीन सिद्ध हुए हैं। उनका मन आज की पराजय से खिन्न है। दुख उन्हें पराजय का नहीं, ईश्वरीय विधान का है। जो अहंकारी है, अत्याचारी है; आज वही लायक बना हुआ है। उसी को दैवी विधान ने गले से लगा लिया है। अपनी सफलता पर रावण अट्टहास करता है, राम की भावनाएं भींग जाती हैं। मन में सीता के भयाक्रांत उस आनन का ध्यान उतर आता है जिसके उद्धार की संभवनाएं अब धूमिल पड़ गयी हैं। राम की आँखों से आंसू लुढ़क पड़ते हैं। पूरी सेना में निराशा छा जाती है। विभीषण स्थिति की गंभीरता को समझकर आगे बढ़ता है और प्रबोधनोपरांत राम को चंडीजाप का सुझाव देता है। युद्ध के कोलाहल से दूर कहीं गिरि-शृंग पर ध्यानावस्थित राम का मन आद्याशक्ति के रूपसागर में तैर रहा है, तभी आठवें दिन पुरश्चरण काल के पूर्व भगवती दुर्गा ने छिपकर पूजा के अन्तिम-प्रसून को छिपा लिया। राम का मन आर्द्र हो जाता है, पर विवेक साथ नहीं छोड़ता। उन्हें बचपन याद आता है, माता याद आती हैं, उनके शब्द याद आते हैं, '···'राजीव नयन' शब्द का बोध होता है। तो मेरे पास अब भी दो कमल प्रसून शेष हैं, उन्हीं को अर्पित करना चाहिए, उन्हीं को अर्पित करूंगा। राम नयन-कमल को अर्पित करने के लिए शर-फलक उठा लेते हैं। भगवती दुर्गा उनका हाथ थाम लेती हैं और राम नतसिर हो जाते हैं···या देवी सर्वभूतेषु···। मां ! तुम शक्ति रूपिणी हो, मुझे शक्ति दो ! शक्ति दो !! शक्ति दो !!! भगवती

विजयी होने का वरदान देकर अलक्षित हो जाती हैं ।'



पास खड़ी पत्नी द्वारा सम्बोधित होने पर मैं सचेत हो जाता हूं और ऐतिहासिक दृश्य आँखों से फिसल जाता है । मैं, पत्नी और अपने दो अदद बच्चों के साथ भगवती विन्ध्यवासिनी की जय-जयकार कर रही उस बेसुमार भीड़ में समा जाता हूं जिसमें समाने के लिए अमरोहा से वाराणसी और फिर वाराणसी से विन्ध्याचल तक पहुंचा हूं । पर मेरा मध्यवर्गीय संस्कार दर्शनार्थियों की उस लम्बी कतार में खड़ा होने में सकुचाता है जिसमें अधिसंख्य अधनंगे हैं । उनके वस्त्र औसत से कहीं अधिक गंदे हैं । उनकी आँखें झुर्रियों से घिरी हुई हैं और वे भरी जवानी में बुढ़ापे के चिह्नों को समेटे हुए हैं । हो सकता है, इनमें से अनेक के पेट में रोटी न हो और वे रोटी का वरदान मांगने की नीयत से यहां तक पहुंचे हों । मैं इस भीड़ और उसकी मनोवृत्ति से परिचित हूं और मैं जानता हूं कि ये कौन हैं ? ये खेती करते हैं, अन्न उगाते हैं, भेड़ चराते हैं, ठेला खींचते हैं, घोड़ा हांकते हैं, श्रम करते हैं, श्रम बेचते हैं और रोटी कमाते हैं । मैं जानता हूं कि ये आधुनिक भाव-बोध से अनभिज्ञ हैं । ये न तो किसी को धोखा देते हैं और न इन्हें किसी से धोखा खाने का भय है और यदि कोई धोखा दे भी दे तो कोई शिकायत नहीं । मैं जानता हूं कि इन्होंने विद्या नहीं पढ़ी है, वेद-शास्त्र से इनका कोई सरोकार नहीं, किसी ने कभी कुछ समझा दिया, बस उसी लकीर के फकीर बने हुए हैं, उसी के लिए तीर्थ-दर-तीर्थ भागते फिर रहे हैं और छककर तीर्थ-रस का पान कर रहे हैं । वैसे मैं भी तीर्थों की यात्रा किया करता हूं, पर मुझे वैसा रस कहां मुयस्सर होता और फिर होवे तो कैसे ? मेरा बुद्धिवादी मस्तिष्क तो तर्क की भाषा समझते-समझते बंजर हो गया है । उसमें श्रद्धा और विश्वास का पादप कैसे लहराये ? तीर्थ-रस पान के लिए तो भाव की भाषा चाहिए । आज का तथाकथित आधुनिक मनुष्य उस भाषा को पीछे छोड़ आया है । वह तो समय का शिकारी होकर क्षण-भोग का विश्वासी हो गया है । उसके लिए अब परम्पराओं और मूल्यों का कोई महत्व नहीं । उसके लिए ईश्वर मर चुका है तो फिर उसे ईश्वर-बोधक

उन संदर्भों से कैसे रस मिले ?

मैं भगवती की भव्य प्रतिमा को अपलक नयनों से निहारने लगता हूं। लगभग सात सौ किलोमीटर की यात्रा का श्रमभार काफ़ूर हो जाता है। आँखों में भगवती की प्रतिमा समा जाती है। हमें हाथ जोड़ने का आदेश देकर पुजारी हमारे हाथों में पड़ी पूजा-सामग्री को देवी के चरणों में अर्पित कर देता है और नारीयल तोड़ते हुए द्रुतगति से पाठ करने लगता है—

या देवी सर्व भूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
या देवी सर्व भूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
या देवी सर्व भूतेषु लक्ष्मीरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

यद्यपि यात्रा निवृत्त होकर अब मैं रोजमर्रा के जीवन में खो चुका हूं, पर रह रहकर पुजारी की प्रार्थना में प्रयुक्त देवी के तीनों रूपों में संगति बैठाने में व्यग्र हो जाता हूं। आखिर एक ही देवी को तीन रूपों में क्यों स्मरण किया गया है। 'दुर्गा सप्तशती' में देवी को इक्कीस रूपों में व्याप्त बताया गया है। हो सकता है अन्य ग्रंथों में देवी के और रूपों की कल्पना हुई हो। जब इस विषय में अधिक नहीं जानता तो फिर क्यों माथापच्ची करूं। हां, 'मारकण्डे पुराण' के कुछ तथ्यों की जानकारी अवश्य है जिसमें जगत् की मूलभूत आद्याशक्ति को महालक्ष्मी बताया गया है। वही संपूर्ण ईश्वरों की अधीश्वरी हैं। लक्ष्य रूप में संपूर्ण विश्व उनका रूप है और अलक्ष्य रूप में उन्होंने संपूर्ण विश्व को व्याप्त कर रखा है।······लेकिन साथ ही कुछ शास्त्रों में मैं जगत् की मूलभूत आद्याशक्ति के रूप में महाकाली और महासरस्वती का नाम भी पढ़ आया हूं। भारतीय उपासना पद्धति भी खूब है। उसमें डूबो तो डुबते ही जाओ, कहीं थाह नहीं। न जानने वाले के लिए मृगमरीचिका। कोई भ्रमवश एक बार दौड़ गया तो दौड़ता ही रह जाय। विदेशी पण्डित तो ऐसे दौड़े कि अंधों की तरह आपस में ही टकरा गये। कुछ ने तो भारतीय उपासना पद्धति को बहुदेवाद (पालिथीज्म) कह कर

छुट्टी ले ली, पर मैक्समूलर को बात गले नहीं उतरी। बेचारा कुछ भारतीय उपासना पद्धति से परिचित था। वेदों का अध्ययन भी खूब किया था। वैदिक साहित्य से तो इस कद्र प्रभावित था कि बाद में अपने आपको 'मोक्षमूलर' कहने लगा था। उसे लगा कि भारतीय देवों की स्थिति ग्रीक, रोमन, अफ्रीका आदि देशों जैसी नहीं है जहां एक महादेव के अन्दर बहुत सारे देवता होते हैं जिनके अधिकार और क्षेत्र निश्चित होते हैं। उसने भारतीय उपासना पद्धति को एकैकदेववाद (हेनोथीज्म) नाम दिया है। उपासना तो सभी देवों की होती है, पर उनमें जिस समय जिस देवता की उपासना होती है उस समय उसी देवता को प्रधान बताया जाता है और शेष देवताओं को उसके आश्रित। वैदिक देवताओं की स्थिति कुछ इसी प्रकार है फिर भी पंडितों ने मैक्समूलर की बात को स्वीकार नहीं किया। उसके निर्णय को सतही और स्थूल बताकर उड़ा दिया। उन्हें तो वैदिक ऋषियों का आर्षवाक्य याद रहा—'जल में, वायु में, अग्नि में, औषधियों में, वनस्पतियों में जो देवता है उस महादेव को मैं प्रणाम करता हूं।'

जब उपासना ही अद्वैत भाव रूप शक्ति की होती है तो उसे चाहे जिस नाम से पुकारो अथवा उसके जिस रूप की उपासना करो कोई फर्क नहीं पड़ता। दरअसल इस त्रिपुरीकृत दृश्यमान जगत् में जब आद्याशक्ति क्रिया रूप में प्रकट होती है तो उसका रूप तमोगुण प्रधान महाकाली होता है, जब इच्छा रूप में प्रकट होती है तो उसका रूप सतोगुण प्रधान महासरस्वती होता है। भारतीय उपासना के दिनों में नवरात्र, दीपावली और वसन्तपंचमी के दिन आद्याशक्ति के उपासना के दिन हैं। इन तीनों दिन देवी के विशिष्ट रूपों की उपासना का प्रावधान है। नवरात्र में यह रूप तमोगुण प्रधान महाकाली होता है तो दीपावली में रजोगुण प्रधान महालक्ष्मी और वसंतपंचमी में सतोगुण प्रधान महासरस्वती। देश के पूर्वी भागों में दीपावली के दिन महाकाली की भी उपासना होती है। लेकिन नवरात्र और वसंतपंचमी के दिन प्रायः सर्वत्र महाकाली और महासरस्वती की ही उपासना होती है। इन विशिष्ट अवसरों पर भी स्वरूप विशेष की उपासना के बाद भी आद्या-शक्ति के अन्य स्वरूपों को सदा स्मरण किया जाता है।

□

मेरे मानस पटल पर फिर एक बार विन्ध्यवासिनी की प्रतिमा और उनके दर्शन की प्रतीक्षा में खड़ी बेशुमार भीड़ का रूप अंकित हो जाता है और मैं मां के चरणों में निवेदन करता हूं। मां! अपने भक्तों पर दया करो। देखो वे तुम्हारी जय-जयकार से आकाश की नीरवता को खंडित कर रहे हैं और तुम यहां शान्त भाव से बैठी हो! देखो न सत्ताधारियों के मोहनिद्रा में सो जाने के कारण भ्रष्टाचार और चोर-बाजारी रूपी मधु-कैटभ से मानवता तड़फ रही है और पूरे देश में अज्ञान और अविवेक का ताण्डव नर्तन हो रहा है। देखो न साम्प्रदायिकता का महिषासुर अपने पाशविक बल से अहिंसा और सत्य का गला घोटकर उसे राष्ट्रीय जीवन से बाहर निकाल रहा है। और परिग्रह रूपी शुम्भ-निशुम्भ दूसरों को अधिकारहीन कर अपनी शक्ति पर अट्टहास कर रहे हैं। मानवता उनकी यातना से कराह रही है। मां! अब बहुत देर हो चुकी है, उठो न, अपने मातृत्व को स्मरण करो! अपने पुत्रों के तथाकथित रहनुमाओं के मोहान्धकार को विदीर्ण कर उनमें कर्त्तव्यनिष्ठा का भाव संचारित कर दो और एक बार फिर अपने भक्तों को बता दो कि अधिकार मांगने से नहीं मिलता उसे तो लेना पड़ता है। इसलिए कुछ पाने के लिए स्वार्थपरता की भावना से ऊपर उठो। अपनी पाशविक प्रवृत्ति का अन्त करो। देखो! समय तुम्हारा इंतजार कर रहा है। आने वाला कल तुम्हारा है!

जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि

मित्रों की इच्छा है कि अपने गांव के विषय में कुछ लिखूं और न जाने क्यों मेरा मन भी इस इच्छा से कतराना नहीं चाहता। वैसे मैं अपने गांव से उदासीन हूं और इस उदासीनता का कारण मेरा दीर्घ-कालीन नगर प्रवास है : गांव की मिट्टी से कट जाना है। इस स्थिति में मुझे औरों की तुलना में गांव वालों से, उनकी मनोवृत्तियों से खूब कतराना चाहिए। अपने शहरातीपन को पूरी शक्ति से गंवारपन से बचाना चाहिए लेकिन मैं ऐसा नहीं कर पा रहा हूं और न कर सकता हूं क्योंकि अपनी वकत को जानता हूं। सच तो यह है कि औरों की तुलना में कहीं अधिक अपने गांव को प्यार करता हूं। उस पर पांव नहीं रखता। पांव रखना पाप समझता हूं, पर यह कैसे संभव है कि पांव न रखूं? और जब पांव रखना पड़ता है तो अपराध के लिए भगवती वसुन्धरा से क्षमा मांग लेता हूं—

समुद्रमेखले देवि! पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्वमे॥

और फिर मैं उदन्ती के किनारे बैठ जाता हूं। उसकी सतत प्रवाहमान धारा को निर्निमेष नेत्रों से देखने लगता हूं। मन कल्पना की तहों को विदीर्ण कर कहीं दूर अनजान छितिज में खो जाता है और अंधेरे में टटोले जाने वाले घड़े की तरह मानवता के अतीत से टकरा जाता है। उसके सामने 'टांड़' शब्द का इतिहास सजीव हो जाता है जिसके आधार पर इस पुण्यभूमि का नाम ही 'टांड़ा' रखा गया है।

वैसे शब्द है 'टांड़' और उसका पुलिंग है 'टांड़ा'। इन दोनों रूपों में 'टांड़' शब्द का प्रयोग पुराना है जो कभी पहाड़ों की तलहटी और घाटियों के ऊपर मचान सदृश घास के मैदानों के लिए प्रयुक्त होता था। इस शब्द की व्युत्पत्ति 'टूंड़' शब्द से हुई है। प्रारम्भ में यह शब्द केवल धान के टूंड़ के लिए प्रयुक्त होता था, परन्तु बाद में इसका अर्थ विस्तार हुआ और आज सभी अनाजों के टूंड़ के लिए प्रयुक्त होता है।

मानवता के विकास के साथ-साथ 'टांड़' शब्द भी विकसित होता रहा। इस दौर में उसका कभी अर्थ विस्तार हुआ तो कभी अर्थ संकोच और कभी अर्थ परिवर्तन। केंचुल की तरह अपना रूप बदलता रहा। कभी समूह का पर्याय बना तो कभी राशि का और कभी घरों की कतार का। पुलिंग टांड़ा' तो इतना बदल गया कि उसकी पहचान ही कठिन हो गई और उसका अर्थ हो गया—वस्तुओं से लदे हुए बैलों का झुण्ड, बैलों पर लदी हुई व्यापार की वस्तुएं, लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने वाला माल, व्यापारियों का समूह, परिवार और चुपके से लकड़ी को कुतर-कुतर कर खाने वाला कीड़ा। लगता है हमारे प्यारे की दोस्ती किसी बहुरूपिया से हो गई है। तो क्या हुआ, पहचान थोड़े ही खत्म होती है। बस यही हाल हमारे प्यारे का है। बच्चू आसानी से 'टांड़' शब्द से पहचान लिये जाते हैं। क्यों न पहचाने जाते ? 'टांड़' शब्द के भावार्थ को पचाना कोई हंसी खेल थोड़े है। जब भगवान् शिव विष को पचाकर भी नीलकण्ठ हो गये तो टांड़ा की क्या हस्ती जो अपने रूप को छिपा सके।



सहसा एक मछली जोरों से उछलती है। छप से आवाज़ होती है और मैं चैतन्य हो जाता हूं। उसकी रूपहली चमक से मेरी आंखें चमक उठती हैं और मैं अनमनस्क भाव से गांव को, गांव के ऊबड़-खाबड़ घरों को और निस्तब्ध कोलाहल को देखने लगता हूं। मेरे सामने गांव की तीन पीढ़ियों का इतिहास है। पहली पीढ़ी को तो हमने देखा नहीं, सुना है, लेकिन दूसरी पीढ़ी मेरे सामने है। उसके कर्णधारों की मनसा से परिचित हूं। उनके क्रिया-कलापों को दीर्घकाल से देखता चला आ रहा हूं। तीसरी पीढ़ी तो अपनी है। मैं भी उसका सदस्य हूं। उसके

उत्थान-पतन में मेरा प्रत्यक्ष योगदान है। मैं अपने उत्तरदायित्व से मुकर नहीं सकता क्योंकि इस भूमि पर मेरा जन्म हुआ है। उसकी गोदी में मेरा बचपन बीता है। उसकी उपज से मेरा पालन-पोषण हुआ है। उसकी वायु से मेरा संस्कार हुआ है। इसलिए उस भूमि से मेरा गहरा लगाव है। उसके प्रति मेरा उत्तरदायित्व है। मुझे उसे स्वीकार करना है और करना होगा ही।

मैं सोचने लगता हूं। मेरे मानस पटल पर मेरे ही पितामह पण्डितराज (स्व० रामखेलावन त्रिपाठी) का चित्र आलोकित हो जाता है जिन्होंने सर्वप्रथम अपने गांव पर कुछ लिखने का प्रयास किया है। उनकी कई कविताओं में गांव तथा गांववालों के जीवन की झांकी मिलती है। कहते हैं कि गांव वाले उनकी बहुत इज्जत करते थे और वे भी गांववालों को हृदय से चाहते थे। भागलपुर के राजदरबार में रहकर भी उन्हें गांव की चिन्ता सताती रहती थी और जब सन् चार (१६०४ ई०) का सूखा पड़ा, गांव के गांव उजड़ने लगे, रोजी-रोटी की तलाश में लोग शहरों की ओर भागने लगे तो वे वहां रहते हुए भी गांव के किसी आदमी को भूख से नहीं मरने दिये। सभी उस मृत्यु की भयावनी छाया में भी चैन की बंशी बजाते रहे और बाद में जब उन्हें गांव वालों की मनसा का, उनकी स्वार्थपरता का पता चला तो उनकी आत्मा कराह उठी और अन्तर्मन की ग्लानि न चाहते हुए भी सवैया के रूप में प्रकट हो गई—

साधु अछैबर छेदी जनों यह तीनों भयो कुल को भयकारो
ब्राह्मण विष्णु को पाद हन्यों अब चाहत शंकर को मैं मारो
गोचर जोत विध्वंस किन्हों अब गौवन के दुख कौन विचारो
'पण्डितराज' विचार कहें अब गांव रसातल जात हमारो।

पण्डितराज को कितना कष्ट रहा होगा इसका अनुमान सहजतया नहीं लगाया जा सकता। आज की पीढ़ी के लिए तो यह और कठिन है क्योंकि वह अपने गांव के लिए काम नहीं करती, गांव के लिए नहीं जीती, गांव के विषय में नहीं सोचती। उसके कर्म का उद्देश्य आत्म-तुष्टि है। हानि-लाभ पर उसका अपना एकाधिकार है वह अपने परिवेश को अकेले ही भोगना चाहती है। वह व्यक्तिवादी दुनिया की

सहचरी है। अपने को भौतिकवादी दुनिया का यंत्र समझती है। समष्टि में उसका विश्वास नहीं। उसके लिए पुराना मूल्यहीन है, ठूठ है, निन्दनीय है; इसलिए त्याज्य है लेकिन जिसका जीवन ही समष्टि के लिए समर्पित रहा हो, जिसने समष्टि में ही व्यष्टि को देखा है, उसकी सुख-सुविधाओं के लिए काम किया है, उसके दर्द को हम साधारण सतही चश्में से नहीं देख सकते। उसके लिए गहरी संवेदना की आवश्यकता है। तलीय गहराई तक न पहुंच पाने के कारण ही आज की पीढ़ी के लिए पुराना मूल्यहीन हो गया है। आज कालिदास जीवित होते तो अपना माथा पकड़ लेते। उन्हें दिन में ही तारे दिखाई देने लगते। उनके सामने तो केवल पुराने का विरोध था और आज नये-पुराने दोनों का है। कालिदास अपने आलोचकों से घबड़ा गये थे। पण्डितों ने उनकी कविताओं का दाम कम लगाया था। कविताएं नये ढंग की थीं। विषय प्रतिपादन की शैली पूर्व से भिन्न थी। कथ्य और शिल्प का आपसी तालमेल था। भाषा सरल तथा कोमल थी। उपमाओं का प्रयोग मार्मिक तथा नया था। बंध भावों के अनुकूल थे। कुल मिलाकर कालिदास में नया ही नया था। नई चीजें दमदार नहीं होती; इसलिए कालिदास की कविताओं में काव्यत्व नहीं था, केवल प्रमाद था और उनके पूर्व की कविताओं में; बहुत कुछ था जो अच्छी कविताओं के लिए आवश्यक होता है। सरस्वती भी उसकी सुषमा का वर्णन नहीं कर सकती, क्योंकि वे पुरानी होती हैं। कालिदास का मन झुंझला उठा और 'मालविकाग्निमित्रम्' में लिखा—

> **पुराणमित्येव न साधु सर्वं**
> **न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।**
> **सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते**
> **मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥**

आज भी बहुत से लोग हैं जो नये के नाम पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, सिर खुजलाते हैं। दुर्भाग्य है कि ऐसे धुरन्धरों की संख्या कम है जिनके अरण्यरोदन पर कोई कान नहीं देता। इसके विपरीत आज पुराने पर हंसने वालों की संख्या बहुत अधिक हो गई है। अब उन्हीं का रावणीय अट्टाहास सर्वत्र सुनायी देता है। यदि

समझौता करना है तो कालिदास से ही बात समाप्त हो सकती है। न सब पुराना ही अनुकरणीय है और न नया ही। अच्छाई-बुराई दोनों में हैं। दोनों को स्वीकार कर आगे बढ़ा जा सकता है। लेकिन क्या पड़ी है समझौता करने की ? लेकिन बात यहीं समाप्त नहीं होती। नये और पुराने के इस संघर्ष से हमारा जीवन अधिक प्रभावित हुआ है। सामयिक जीवन में जो व्यतिक्रम, तनाव, कुण्ठा अथवा एकाकीपन दिखाई देता है, इसी का सुफल है। हम आधुनिक सन्दर्भों को विशेषकर उसकी चमचमाहट को हृदय से स्वीकार करना चाहते हैं और कुछ अंशों में स्वीकार कर चुके हैं, परन्तु उसके भार को वहन करने में सक्षम नहीं बन पाये हैं। पुराने का मोह रह-रहकर हृदय और मस्तिष्क को झकझोर जाता है और हम संशय के घेरे में चक्कर काटने लगते हैं। यह सच है कि हम ज्यों-ज्यों आधुनिकता की ओर गतिशील होते जा रहे हैं त्यों-त्यों हमारे संबंध सिकुड़ते जा रहे हैं। दिन-प्रतिदिन हम सामाजिक संबंधों में ठूठ होते जा रहे हैं। हमारे सामने भविष्य तीव्र बुद्धिवाद का उपहार लिए खड़ा है और हम उसकी प्रतीक्षा में वर्तमान को बेचैनी से भोग रहे हैं। अपने घिनौनेपन का प्रदर्शन चौराहों, क्लबों और काफी हाउसों में इस विश्वास के साथ कर रहे हैं कि यही जीवन का सत्य है, यही जीवन का काम्य है और यही वर्तमान को भोगने का सही तरीका है।

इस विश्वास के कारण सबसे अधिक आघात हमारे भावनात्मक संबंधों को पहुंचा है। जहां हम धर्म, लोकोक्तियों और कहावतों में विश्वास करते रहे हैं, उनसे संचालित होते रहे हैं वहां अब मस्तिष्क के नियंत्रण में रहते हुए भय और विश्वास के साथ सुनहले भविष्य की ओर बढ़ रहे हैं। अब हम उस सत्य को सत्य नहीं मानते जो तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। हमारे मन में जाति, धर्म और धार्मिक संस्थाओं के प्रति वह भाव नहीं रह गया है जो पहले था। अब तो हमारे पास केवल शुष्क मस्तिष्क ही शेष रह गया है जिसमें हम एक दूसरे को भय और आशंका की दृष्टि से देखते हैं। यह आशंका का भाव इतना बढ़ गया है कि कभी-कभी व्यक्ति को अपने अस्तित्व पर ही अविश्वास होने लगता है। ऐसे उचटे व्यक्ति से सत्य-असत्य, विवेक-अविवेक, आस्था-अनास्था की आशा नहीं की जा सकती। जो स्वयं को नहीं पहचानता, वह दूसरों की अनुभूतियों, संवेदनाओं और भावनाओं को

सहचरी है। अपने को भौतिकवादी दुनिया का यंत्र समझती है। समष्टि में उसका विश्वास नहीं। उसके लिए पुराना मूल्यहीन है, ठूठ है, निन्दनीय है; इसलिए त्याज्य है लेकिन जिसका जीवन ही समष्टि के लिए समर्पित रहा हो, जिसने समष्टि में ही व्यष्टि को देखा है, उसकी सुख-सुविधाओं के लिए काम किया है, उसके दर्द को हम साधारण सतही चश्में से नहीं देख सकते। उसके लिए गहरी संवेदना की आवश्यकता है। तलीय गहराई तक न पहुंच पाने के कारण ही आज की पीढ़ी के लिए पुराना मूल्यहीन हो गया है। आज कालिदास जीवित होते तो अपना माथा पकड़ लेते। उन्हें दिन में ही तारे दिखाई देने लगते। उनके सामने तो केवल पुराने का विरोध था और आज नये-पुराने दोनों का है। कालिदास अपने आलोचकों से घबड़ा गये थे। पण्डितों ने उनकी कविताओं का दाम कम लगाया था। कविताएं नये ढंग की थीं। विषय प्रतिपादन की शैली पूर्व से भिन्न थी। कथ्य और शिल्प का आपसी तालमेल था। भाषा सरल तथा कोमल थी। उपमाओं का प्रयोग मार्मिक तथा नया था। बंध भावों के अनुकूल थे। कुल मिलाकर कालिदास में नया ही नया था। नई चीजें दमदार नहीं होती; इसलिए कालिदास की कविताओं में काव्यत्व नहीं था, केवल प्रमाद था और उनके पूर्व की कविताओं में; बहुत कुछ था जो अच्छी कविताओं के लिए आवश्यक होता है। सरस्वती भी उसकी सुषमा का वर्णन नहीं कर सकती, क्योंकि वे पुरानी होती हैं। कालिदास का मन झुंझला उठा और 'मालविकाग्निमित्रम्' में लिखा—

> **पुराणमित्येव न साधु सर्वं**
> **न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।**
> **सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते**
> **मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥**

आज भी बहुत से लोग हैं जो नये के नाम पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, सिर खुजलाते हैं। दुर्भाग्य है कि ऐसे धुरन्धरों की संख्या कम है जिनके अरण्यरोदन पर कोई कान नहीं देता। इसके विपरीत आज पुराने पर हंसने वालों की संख्या बहुत अधिक हो गई है। अब उन्हीं का रावणीय अट्टाहास सर्वत्र सुनायी देता है। यदि

समझौता करना है तो कालिदास से ही बात समाप्त हो सकती है। न सब पुराना ही अनुकरणीय है और न नया ही। अच्छाई-बुराई दोनों में हैं। दोनों को स्वीकार कर आगे बढ़ा जा सकता है। लेकिन क्या पड़ी है समझौता करने की ? लेकिन बात यहीं समाप्त नहीं होती। नये और पुराने के इस संघर्ष से हमारा जीवन अधिक प्रभावित हुआ है। सामयिक जीवन में जो व्यतिक्रम, तनाव, कुण्ठा अथवा एकाकीपन दिखाई देता है, इसी का सुफल है। हम आधुनिक सन्दर्भों को विशेषकर उसकी चमचमाहट को हृदय से स्वीकार करना चाहते हैं और कुछ अंशों में स्वीकार कर चुके हैं, परन्तु उसके भार को वहन करने में सक्षम नहीं बन पाये हैं। पुराने का मोह रह-रहकर हृदय और मस्तिष्क को झकझोर जाता है और हम संशय के घेरे में चक्कर काटने लगते हैं। यह सच है कि हम ज्यों-ज्यों आधुनिकता की ओर गतिशील होते जा रहे हैं त्यों-त्यों हमारे संबंध सिकुड़ते जा रहे हैं। दिन-प्रतिदिन हम सामाजिक संबंधों में ठूठ होते जा रहे हैं। हमारे सामने भविष्य तीव्र बुद्धिवाद का उपहार लिए खड़ा है और हम उसकी प्रतीक्षा में वर्तमान को बेचैनी से भोग रहे हैं। अपने घिनौनेपन का प्रदर्शन चौराहों, क्लबों और काफी हाउसों में इस विश्वास के साथ कर रहे हैं कि यही जीवन का सत्य है, यही जीवन का काम्य है और यही वर्तमान को भोगने का सही तरीका है।

इस विश्वास के कारण सबसे अधिक आघात हमारे भावनात्मक संबंधों को पहुंचा है। जहां हम धर्म, लोकोक्तियों और कहावतों में विश्वास करते रहे हैं, उनसे संचालित होते रहे हैं वहां अब मस्तिष्क के नियंत्रण में रहते हुए भय और विश्वास के साथ सुनहले भविष्य की ओर बढ़ रहे हैं। अब हम उस सत्य को सत्य नहीं मानते जो तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। हमारे मन में जाति, धर्म और धार्मिक संस्थाओं के प्रति वह भाव नहीं रह गया है जो पहले था। अब तो हमारे पास केवल शुष्क मस्तिष्क ही शेष रह गया है जिसमें हम एक दूसरे को भय और आशंका की दृष्टि से देखते हैं। यह आशंका का भाव इतना बढ़ गया है कि कभी-कभी व्यक्ति को अपने अस्तित्व पर ही अविश्वास होने लगता है। ऐसे उचटे व्यक्ति से सत्य-असत्य, विवेक-अविवेक, आस्था-अनास्था की आशा नहीं की जा सकती। जो स्वयं को नहीं पहचानता, वह दूसरों की अनुभूतियों, संवेदनाओं और भावनाओं को

कैसे जान सकता है ? दूसरों की परख के लिए अपनी परख आवश्यक है । जब महर्षि दयानन्द सरस्वती ज्ञान की खोज में स्वामी विरजानन्द के आश्रम पर पहुंचे और उनका दरवाजा खटखटाए तो भीतर से आवाज़ आई, कौन ? उत्साही शिष्य ने उत्तर दिया 'मैं कौन हूं, यही जानने के लिए तो आप के पास आया हूं ।' स्वामी जी को बड़ी प्रसन्नता हुई । बहुत दिन बाद एक प्रतिभावान शिष्य मिला था । आज न तो ऐसे गुरू ही हैं और न शिष्य ही, फिर बेचारे ज्ञान का क्या दोष । वह तो अपने ही स्वदेशी बाजार में विदेशी बन गया है । आज हम इसी आगत ज्ञान से अपने संबंधों, क्रियाओं और मूल्यों का मूल्यांकन करते हैं जिसमें हमें अपना सब कुछ पुराना ही नजर आता है । पुराना आज बुर्जुआ का प्रतीक बन गया है । इसीलिए हम उससे मुक्ति चाहते हैं । किसी भी स्थिति में हम बुर्जुआ नहीं रहना चाहते । हम तो प्रगतिवादियों की लिस्ट मे नाम लिखाना चाहते हैं । विदेशी ज्ञान से प्रभावित होने के कारण ही आज के नवयुवकों के लिए पण्डितराज सरीखे व्यक्तियों में कोई आकर्षण नहीं है लेकिन जिन लोगों ने समष्टि के लिए काम किया है, समष्टि के सुख में व्यष्टि के सुख को देखा है, उनके लिए पण्डितराज का व्यक्तित्व आज भी प्रेरणादायक है और यही कारण है कि गांव के बड़े-बूढ़े ही पण्डितराज को स्मरण करते हैं, उनके नाम पर आंसू बहाते हैं, उनका अभाव उन्हें खलता है क्योंकि ऐसे बुजुर्गों के लिए गांव ही सब कुछ है । उसी की प्रतिष्ठा के लिए आजीवन सड़ते-गलते रहे हैं । उनके लिए यह भूमि राम की अयोध्या है ।

जन्म-भूमि मम पुरी सुहावनि ।
उत्तर दिशि बह सरऊ पावनि ।।
अतिप्रिय मोहिं इहां के वासी ।
मम धामदा पुरी सुखरासी ।।

भले ही टांड़ा का पृष्ठ प्रदेश चित्ताकर्षक न हो, उसके किनारे से सरयू न बहती हो, अंचल में राम जैसा कोई नरपुंगव न पैदा हुआ हो, फिर भी ऐसे लोगों के लिए यही भूमि मुक्तिप्रदायिनी है । उदन्ती में निमज्जित होने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने को उतना ही पवित्र मानता है जितना सरयू में स्नान करने वाला अयोध्यावासी । बजरंगबली का

दर्शन कर यहां का हर नागरिक अपने को निष्कलुष मानता है। उनका विश्वास है कि महावीर के रहते हुए उनका अनिष्ट नहीं हो सकता। स्वामी और सेवक के संबंध में उनकी गहरी आस्था है। फिर सेवक का महत्त्व और उसका धर्म स्वामी से कहीं अधिक है। यदि न होता तो हमारे आचार्य इस मत का प्रतिपादन नहीं करते। पण्डितों का विश्वास है कि सेवा-धर्म बहुत ही कठिन है। उसका निर्वाह योगी भी नहीं कर पाते तो इन भोले-भाले गृहस्थों से क्या आशा की जा सकती है, फिर भी उनकी आस्था के सामने नतमस्तक होना पड़ता है। अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार वे अपने आराध्य की अर्चना पूर्ण मनोयोग से करते हैं। जीवन की कठिनतम् परिस्थितियों में भी अपने आराध्य को स्मरण करते हैं और जब कभी प्राकृतिक विपदा आती है तो सभी एक जुट होकर अपने आराध्य को साक्षी बनाकर वैदिक देवों की अर्चना करते हैं। हमारे बचपन में कई बार इन्द्रदेव को तुष्ट करने के लिए यहां पर यज्ञों का आयोजन हुआ है। पण्डितराज को यह स्थान बहुत प्रिय था। यहीं से उन्होंने कई बार शुकदेव की अमर वाणी का उद्घोष किया था। गीता के ज्ञान को सामान्य बनाकर ग्रामीणों को वितरित किया था। उन्हें अपने कर्म और आचरण में ही ईश्वर को ढूढ़ने की सलाह दी थी। जब कभी वे अपने गांव होते तो यहां आना नहीं भूलते और जब उन्हें किसी सन्दर्भ में अपने गांव का परिचय देना पड़ा तो वे महावीर का उल्लेख किये बिना न रह सके।

जाहि लगे तरूवर सूखे
ताहि ग्राम का नाम।
दक्षिण दिसि उदन्ती बहे
महावीर करत विश्राम॥

यद्यपि महावीर का विश्राम स्थल डोरा में है, फिर भी गांव वाले इस स्थान पर अपना पूरा अधिकार रखते हैं। डोरावालों को भी इसमें कोई आपत्ति नहीं है। भला अराध्य का क्या बंटवारा। अलगाव के भाव ने ही तो आधुनिक जीवन को निरस और अकेला बना दिया है। इसी भाव ने कभी न समाप्त होने वाली राक्षसी भूख को जन्म देकर पण्डितराज के गांव को रसातल में भेज दिया है। गोचर

को शस्य-प्रसविनी में परिवर्तित कर दिया। उदन्ती की सघन अमराइयां जिनके बीच से होकर नदी तट पर पहुंचने में भय प्रतीत होता था आज पादपहीन हो चुकी हैं। तट का प्राकृतिक वैभव—जिसकी सुषमा को देखकर कभी मन लहरा उठता था, कोयल पिहकने लगती थी, आम्रमंजरियों से आमोदित होकर भ्रमरी ऋतुप्रिया बनकर अपने अज्ञात प्रेमी के लिए पावड़े बिछा देती थी, प्रान्तर भाग में खिले हुए किंशुक के फूल विरहिणियों की भावनाओं को तपाकर खरा कंचन बनाते थे, भौंरे अपनी गुन-गुनाहट से स्याम वियोगिनियों को कृष्ण का सन्देश सुनाते थे—आज उजड़ चुका है। शुक-सारिकाओं का प्रदेश अब कटाव की चपेट में आकर बंजर बन गया है जिसे देखकर मन मृग-मरीचिका की तरह दौड़ लगाने लगता है।

उदन्ती की अमराइयों का क्या अन्त हुआ कि पूरा गांव ही उजड़ गया। पूरे गांव पर ही विपत्ति आ गई। पारस्परिक संबंध बिगड़ने लगे, वैर का पौधा लहराने लगा, ममता सिसकने लगी तो वैभव संन्यासी बन गया। गांव का मानचित्र ही बदल गया। मानदण्ड की पुरानी रेखाएं मिटा दी गई। गांव का जीवन अब बदले हुए मानचित्र के अनुसार संचालित है। आज भी पण्डितराज और उनके जजमानों के वंशज शेष हैं लेकिन अब न तो वह तेज है और न स्वाभिमान। एक खाली मस्तिष्क ही शेष है जिससे गांव का समूचा जीवन चलाय-मान है। पुराने से भिन्न जीवन की इस धारा में अब पुरानेपन के लिए कोई स्थान नही है। पुराने आचरण और व्यवहार सभी आधु-निकता के जल से धुलकर धूल-धुसरित हो चुके हैं। समय पर शरीर न पोछने के कारण धूल की परत-दर-परत जमती जा रही हैं। सफाई के लिए पण्डितराज सरीखे नवयुवकों की आवश्यकता है। गांव की धरती अपनी वेदना को निरन्तर उदन्ती की ऊर्मियों द्वारा व्यक्त कर रही है लेकिन उसकी वेदना को कोई सुनने वाला नहीं है। करुण-क्रदन की ध्वनि तो एक ही साथ कई कानों में पहुंचती है, पर शरीर ऐसा कि टस से मस नहीं होता। आधुनिकता की इस दौड़ में भी सभी के चेहरे पर मुर्दनी छाई हुई है और सभी तुलसी के 'दारिद दसानन' से मुक्ति के लिए छटपटा रहे हैं।

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख भलि,
बनिक को न बानिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सो कहां जाई का करी।
वेदहूं पुरान कही लोकहूं बिलोकियत,
सांकरे सबै पै, राम रावरे कृपा करीं।
दारिद दसानन दबाई दुनी दीन-बन्धु,
दुरित दहन देखि तुलसी हहाकारी ।।

इस दशा में मैं अब भूल जाना चाहता हूं कि साधू सिंह के परिवार का तेज सूर्य डूब चुका है, मैं अब भूल जाना चाहता हूं कि अछैबर सिंह के अन्वयागतों का सौन्दर्यानुराग समाप्त हो चुका है, मैं अब भूल जाना चाहता हूं कि छेदी सिंह के कुल की कूटनीति अव्यवहारिक हो चुकी है और मैं अब भूल जाना चाहता हूं कि पण्डितराज का तिवारी खानदान आपसी वैमनस्य की आग में झुलसकर निर्जीव हो चुका है। लेकिन मैं चाहकर भी भूल नहीं पा रहा हूं। मेरा चेतन सजग है। उसके सामने भोगा हुआ यथार्थ खड़ा है। इसलिए मुझे किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं होता क्योंकि मैं मनुष्य की जिजीविषा से परिचित हूं। उनका चूक जाना ही उनका धर्म था। लेकिन जब मैं उदन्ती की धारा को, उसकी लौटती हुई ऊर्मियों को किनारे से टकराकर लौटते हुए देखता हूं तो मन कचोट उठता है। मुझे पण्डितराज की पीड़ा का भावन हो जाता है। उनके समष्टि-चिंतन पर आस्था गदरा जाती है। मन में प्रश्न उठता है क्या समाज के अभाव में व्यक्ति का अस्तित्व है? क्या व्यक्ति और समाज में बिना सामंजस्य बनाये विकास सम्भव है? तो उदाहरण के रूप में मेरे सामने टांड़ा की धरती और उसका वैभव सजीव हो जाता है और मैं जब पूरे परिवेश का सर्वेक्षण करता हूं तो लगता है, जब तक पण्डितराज के जजमान व्यक्ति और समाज में सामंजस्य बनाये रहे तब तक उनका तथा उनके गांव का तेज सूर्य विकास की अवस्था को प्राप्त करता रहा और जब उनके अन्वयागतों ने व्यक्तिवादी स्पर्द्धा से सामंजस्य तोड़ दिया तो उनके गांव में वैमनस्य की आग दहक उठी। पूरे गांव के साथ उनका भी स्वाभिमान जलकर राख हो गया। जबकि गांव की धरती वही है, उदन्ती की धारा उसी गति से प्रवाहित है,

महावीर अपने स्थान से टस से मस नहीं हुए और देखते-देखते गांव की ऐश्वर्य लक्ष्मी रूठकर चिर विश्राम के लिए उदन्ती की धारा में समा गई और हम, अपने को आधुनिक कहने वाले मनुष्य अपनी सांस्कृतिक विरासत को नष्ट होते देखते रहे और देखते जा रहे हैं। बचाने की कौन कहे आधुनिकता का जामा पहनकर मायामृग की तरह भाग रहे हैं। निरन्तर भागते जा रहे हैं, कहीं दूर क्षितिज के अन्तराल में।

मधुवन महक उठा

कैसा लगा शीर्षक ? माफ़ कीजियेगा, इसे न तो गढ़ा है और न किसी कवि की पंक्तियों से उठा लिया है। एक दिन यों ही चलते-चलाते अनायास ही मिल गया। चलते-फिरते, बोलते-चालते, हंसते-हंसाते, गाते-बजाते, सुनते-सुनाते बहुत सारी वस्तुएं मिल जाया करती हैं अथवा मिलने की संभावना रहती है। लेकिन यह तभी संभव होता है जब हम भीतर और बाहर की दोनों आंखों को खोलकर चलें। जिनकी दोनों आंखें खुली रहती हैं उनके अनुभव का वैभव दिन दूना रात चौगुना बढ़ता रहता है और जिनकी युग-मदिरा से अलसायी रहती हैं और वे जागते हुए भी सोते रहते हैं, उनके सामने से ज्ञान-गंगा की धारा निकल जाती है, उन पर छींटे भी नहीं पड़ते। दुर्भाग्यवश समाज में ऐसे हतभाग्यों की संख्या अधिक होती है जो देखकर न देखते हैं, सुनकर न सुनते हैं, पाकर न पाते हैं और न चाहकर चाहते हैं। अजन्में भविष्य के लिए वर्तमान को तिलांजलि दे देते हैं।

□

अभी कल की ही तो बात है, जब हम हेमन्त की ढलती दोपहरी में बेमन इच्छित दिशा की ओर बढ़ रहे थे। पछुआं के झोकों से लहराते सरसों के कुसुम स्तबक बाहें उठा-उठाकर हमारा स्वागत कर रहे थे और हमारा रिक्शा प्रखर वायु वेग का प्रतिरोध करता हुआ नास्तिक के मन में जन्मने वाले आस्तिक भाव की तरह मंथर गति से 'मखदुमपुर' की ओर बढ़ रहा था। तभी प्रिय भाई रवीन्द्र के मुख से निकल पड़ा

था यह शीर्षक। उस समय तो मेरा मन अचकचा-सा गया था और आंखें परिवेश पर पसर कर वसन्त की पहचान ढूंढने लगीं थीं। न कहीं आमों में बौर, न पुंस्कोकिला का पंचम स्वर, न दूध धोई चांदनी, न दखिनहियां का मधुर स्पर्श और न प्रकृति-वधू का नव-शृंगार। चारों ओर हेमन्त की घोर उदासी। पास खड़ा चरवाहा बालक अपनी ठिठुरन को भगाने की गरज से बेसुरा राग अलाप रहा है। हवा के झौंके शरीर के पोर-पोर में घुसकर हड्डियों को कंपकंपा रहे हैं। कहीं दूर तक वसंत का नामोंनिशान नहीं। फिर भाई रवीन्द्र को कौन-सा सूत्र मिल गया जिससे उनके मन का कोना-कोना महक उठा और मैं उनका सह यात्री होने के बाद भी उससे अपरिचित रह गया। यह जानते हुए भी कि विभिन्न क्षेत्रों में सबकी शक्ति और सामर्थ्य अलग-अलग हुआ करती है फिर भी मन अपनी इस असफलता पर झुंझलाया हुआ है और वह इस झुंझलाहट को मिटाना चाहता है शीर्षक की अर्थवता से परिवेश की संगति बैठाकर। जब संगति नहीं बैठा पाता तो उदासीन भी हो जाता है।

चित्त का उन्मन हो जाना स्वाभाविक है। लेकिन भारतीय जीवन-दर्शन में इस अवस्था का एक निश्चित कारण होता है। यहां कोई घटना स्वतः नहीं घटती, उनका पूर्वापर संबंध होता है। भारत में चित्त की इस अवस्था का कारण 'जनानान्तर सौहृदानि' अर्थात् जन्मान्तर की प्रीति अथवा पहचान, माना गया है। एक बार इसी तरह दुष्यन्त का निरुद्विग्न चित्त रानी हंसवती के विरह-सूचक गीत से उद्विग्न हो उठा था। यह उसके लिए स्वाभाविक था। भले ही वह अपने समय का स्वर्ण मानव ही क्यों न रहा हो, आखिर था तो मनुष्य। फिर रानी हंसवती का 'मधुकर' सम्बोधन ही ऐसा था। दुष्यन्त उसे नवीन आम्रमंजरी की तरह चूसकर त्याग दिया था और अब कमलासक्त हो गया है। मंजरी को भला यह कैसे सुहाए, पर बेचारी कर ही क्या सकती है। उपालम्भ देती है, विस्मृतोऽस्येनां कथम्।…इसे कैसे भूल गए? तुक ठीक बैठ गया। दुष्यन्त, चित्त की उद्विग्नता का कारण ढूंढने लगता है। प्रत्यक्ष कारण तो कुछ भी नहीं था। किसी वस्तु का अभाव नहीं, किसी इष्टजन का वियोग नहीं फिर कैसी उन्मना, कैसा उद्वेग और कैसा अधैर्य। रहस्यबोध के लिए वह व्याकुल हो जाता है और कारण निकलता हैं 'अबोधपूर्व' का स्मरण। जीवन की निरन्तरता

का प्रतिबोधन। फिर उस भावदशा के साथ जिसमें शीर्षक का स्फोट हुआ, परिवेश की अर्थ संगति बैठाना निरर्थक है। जब कोई रागाकुल चित्त किसी सुन्दर वस्तु अथवा दृश्य को देखकर या मधुर शब्दों को सुनकर अकुला उठे तभी मधुवन की मदिर गंध का प्रादुर्भाव हो जाता है। फिर मधुमास आये अथवा न आए कोई फर्क नहीं पड़ता ? मन का कोना तो उसकी गंध से महक ही जाता है। राइनर कुंत्से के शब्दों में—

हमारे भीतर एक जंगली गुलाब है
वह हमारी आंखों में
जड़ें जमाता है
जब वे अपने प्रिय की आंखों में देखती हैं
जड़ें जमाता है।
हमारे कपोलों पर
जब उन्हें अपने प्रिय की सांस छूती है
जड़ें जमाता है
हाथ की त्वचा में
जब उसे अपने प्रिय का हाथ छूता है
वह जड़ें जमाता है
उगता है चढ़ता है
और एक शाम या एक सुबह
हम सिर्फ महसूस करते हैं
जगह की मांग करता है।
प्रेम हमारे भीतर
एक जंगली गुलाब है
जो तर्क या विवेक के जरिये न तो जाना जा सकता है
और न उनका मोहताज है
पर विवेक
हमारे भीतर एक चाकू है
सैकड़ों डालियों के बीच से
गुलाब के वास्ते
एक टुकड़ा आकाश काटने के लिए।

(राइनर कुंत्से, पूर्वी जर्मनी)

लेकिन मेरे मन का गुलाब ऐसा कि फूलने को तैयार नहीं। तन्द्रालस है। फिर मधुवन महके तो महके कैसे ? जब वक्त की गमगीन बारिस से मेरा गमगीन चेहरा और परिवेश भींग रहा हो, तब सपनों के बल पर इस उधार की जिंदगी को कब तक जिया जा सकता है ?

इस वक्त
जब गमगीन बारिश
मेरे गमगीन चेहरे को भिगो रही है
मैं फूल की सीढ़ी का सपना देखता हूं
जो झुकी हुई पीठों
और घुटनों पर चिपकी हुई हथेलियों की बनी हो
ताकि मैं जन्नत तक चढ़ जाऊं
और खोजूं
कि हमारी आहें और मिन्नते कहां जाती हैं।
जानेमन
सारी आहें और मिन्नते
सारे नाले और पुकारें
लाखों ओंठों और दिलों से उठती हुई
हज़ारों बरसों और सदियों से लगातार
जन्नत में कहीं न कहीं तो बादलों की तरह
इकट्ठा होंगी।
शायद
मेरे अलफ़ाज इस वक्त
ईसा के नज़दीक हों
तो ए जानेमन
हम जन्नत में होने का इंतजार करें।

(मुहम्मद मल मागूत, सीरिया)

तब मधुवन मेरे लिए हकीकत बन जाता है। वह जीवन का संगीत प्रस्तुत करता है। ऐसा संगीत जो निराश्रित जीवन में आशा का संचार

करता है और मनुष्य को संघर्ष के लिए उत्प्रेरित करता है। उसकी सनातन गंध युग-युगान्तर से चली आ रही जीवन-धारा में समाकर मानव की दुर्दमनीय जिजीविषा का प्रमाण प्रस्तुत करती है। नववयस्कों की पुरानी प्रीति का इजहार करके उनके गृहस्थ जीवन का द्वार खोलती है और वे जीवन की पूर्णताओं की ओर आगे बढ़ते हैं। यह बात दूसरी है कि किसी राम का सहज मन किसी सीता के अलौकिक सौन्दर्य को देखने के बाद भी पुनीत बना रह गया हो। सामान्यतया पुरुषमन लोभी होता है। यौवन-स्नाता को देखकर उसमें विकार का आ जाना स्वाभाविक है। अहेरी दुष्यन्त, हिरणशावक का आखेट करते-करते मधुस्नाता शकुन्तला का शिकार कर बैठा। मन का भाव विशेष पर पहुंच जाना, उसके बाद उसके अनुरूप आचरण करना अथवा न करना बहुत कुछ कर्ता की इच्छा और संकल्प शक्ति पर निर्भर करता है। संकल्पशक्ति मनुष्य का अर्जित भाव-व्यापार है। उसके निर्माण में देशकाल की विचारधारा और परिस्थितियों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। यदि कोई देश-धर्म और काल-धर्म से जुड़ा होने के साथ पारिवारिक रीति-नीति का भी मुस्तैदी से पालन कर रहा हो तो उसकी संकल्प शक्ति का क्या पूछना ? फिर भला रघुवंशी राम का मन 'छोभ' के बाद भी कुपंथ की ओर कैसे बढ़ता ? उन्होंने पुष्प-वाटिका में अपने बढ़ते मन को मसोल लिया था और भाव-विशेष के जन्मने के कारण को जानने की जगह, विधाता के मत्थे मढ़ दिया था—

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा।
सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥
सो सबु कारनु जान विधाता।
फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥
रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ।
मनु कुपन्थ पगु धरै न काऊ॥

□

इस समय जब बिजली की हल्की रोशनी में मेरी लेखनी मंथर गति से जैसे-जैसे सफेद कागज पर सरकती जा रही है वैसे-वैसे मेरे मानस-

पटल पर मधुवन के रूप में भारत के सांस्कृतिक इतिहास के दृश्य सजीव होते जाते हैं जिनमें मधुवन को अनेक अच्छे-बुरे दिन देखने पड़े थे। कभी उसने मदनोत्सव पर दुधिया चांदनी में सुन्दरियों के आरक्त चरण-ताटन पर अशोक में दोहद का संचार होते देखा था तो कभी अशोक के नीचे स्फटिकशिला पर पतियों को बैठाकर सन्तानकामिनियों द्वारा की जा रही कन्दर्प देवता की पूजा को निहारा था। और कभी कामिनियों की उस बंकिम चितवन से रोमांचित हो उठा था जिसमें वे अपने पतियों के चरणों पर वसन्त-पुष्पांजलि अर्पित किया करती थीं। लेकिन दुष्यन्त ने तो उसके दिल को ही तोड़ दिया था। अपनी झुंझलाहट में उसने मदनोत्सव का निषेध क्या किया कि मधुवन पर आफत ही आ गयी। बिचारा उस समय सकपका गया था। आम तो बहुत पहले बौरा गए थे लेकिन उनमें अभी तक पराग नहीं आ पाया है। कुरबक खिलना चाहकर भी खिल नहीं पा रहा है, कुड्मलावस्था में ही पड़ा हुआ है। शीत के बीत जाने के बाद भी पुंस्कोकिला का गला रुद्ध है। काम तूणीर से निकाले अर्धबाण को फिर तूणीर में रख देता है।

मधुवन को उस समय मुंह की खानी पड़ी थी जब वह वसन्त की खपंच्चियों पर असमय में ही महक उठा था। इन्द्र की आज्ञानुसार जब कामदेव पार्वती के प्रति महादेव के मन में विकार पैदा करने चला था तो साथ में वसन्त को भी ले लिया था। उस समय मधुवन का तारुण्य निखर आया था। कालिदास ने 'कुमारसंभवम्' में उसकी तरुणाई का मनोहारी वर्णन किया है। एक-एक करके पुष्पधन्वा ने तपस्वी शिव पर शर-संधान करना प्रारंभ किया। पहले उसने सम्मोहन का संधान किया तो असफल रहा। आम्र मंजरियों की भीनी गंध से शिव मोहित नहीं हुए। फिर उसने मारण का संधान किया, यह भी असफल रहा। नवमल्लिका की गंध शिव को प्रभावित न कर सकी। यह अच्छा ही हुआ। फिर उसने उच्चाटन का संधान किया। यह अशोक के लाल-लाल स्तबकों से बना था। शिव का चित्त उच्चटित नहीं हुआ, यह भी अच्छा रहा। उसने फिर वशीकरण का संधान किया। नीलोत्पल से शिव के हृदय में कोमल अनुभूतियों का संचार नहीं हुआ। यह और भी अच्छा रहा। फिर उसने अन्तिम शर वाजीकरण का संधान किया। कर्णकार ने शिवमन को मथ दिया। वे विचलित हो उठे और असामयिक

मदिर गंध के रहस्य को जान लिए। हाय ! अनर्थ हो गया। क्रोध की महाज्वाला में कामदेव भस्म हो गया। वसन्त भाग निकला। मधुवन अपने स्वाभाविक रूप में आ गया। रति के विलाप से उसकी छाती दरक उठी।

संस्कृत काव्य परम्परा से ही मधुवन कवियों के हृदय का हार रहा है। जब जी चाहा है उन्होंने उसकी गंध से प्रमाताओं के मन को महका दिया है। मध्ययुग के पूर्व ही उसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ गयी थी कि वह महाकाव्य रचना का अभिन्न अंग बन गया था। जब कभी कवियों को नायक-नायिकाओं के मिलाने का दूसरा स्थान नहीं मिला तो उठा लिया मधुवन के सन्दर्भ को। इससे सरल कोई दूसरा निरापद अभिप्राय (Motive) उन्हें कहां मिल सकता था। मधुवन है तो वहां मंदिर और सरोवर होगा ही। और जब वहां आम लोग जा सकते हैं तो भला नायक-नायिका क्यों नहीं जा सकते ? जाएंगे ही ! और जाएंगे तो उनके मिलने की संभावना को कैसे इंकार किया जा सकता है। कवियों ने इस संभावना का पूरा लाभ उठाया है। इस संभावना के बल पर यदि तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में सीता और राम में पूर्वानुराग को जन्म दिया है तो कवि चंद ने अपने 'रासो' में शशिव्रता और पृथ्वीराज को सर्वदा के लिए एक कर दिया है। कालिदास ने 'शाकुन्तलम्' में शकुन्तला और दुष्यन्त के राग को शरीर भोग का आस्वाद करा दिया। इस विषय में क्या कहा जाय। जब यह कवियों की इच्छा और रूचि पर निर्भर है। लेकिन मेरा मन तब उदास हो जाता है जब मैं देखता हूं कि आधुनिक युग के आने के साथ मधुवन भारतीय महाकाव्य परम्परा से दूध की मक्खी की तरह फेंक दिया जाता है। दुनिया बड़ी विचित्र है। बैठाती है तो सीधे सिर पर और फेंकती है तो ऐसा कि हड्डी-पसली भी न बचने पाए। अन्तिम दिनों में रहीम का यही हाल हुआ था। जब तक लोगों का उनसे काम निकलता रहा तब तक वाह, वाह करते रहे। एक के बाद दूसरे उन्हें अपने पास ससम्मान बुलाते रहे और जब उनसे काम निकलना बंद हो गया तो कांच-कंदकों की तरह फेंक दिए। ऐसा कि फिर उनका मुग़ल दरबार से तुक न मिल सका।

वैसे मधुवन की इस अवस्था को देखकर उदासीन होने की कोई आवश्यकता नहीं। अगर इस तरह उदासीन होते रहे तो एक दिन

'उदासी बाबा' हो जाएंगे फिर भी उदासीपन के कारणों का अन्त नहीं होगा। इस परिवर्तनधर्मी संसार में कहां-कहां, किन-किन वस्तुओं को देखकर उदासीन हुआ जाय! गौतम बुद्ध के साक्ष्यानुसार एक-न-एक दिन सभी को अपनी प्रिय वस्तुओं का विछोह सहना ही पड़ता है। तो इस सत्य को नजर अन्दाज क्यों किया जाय? जिसका उत्थान हुआ उसका पतन तो निश्चित ही है। फिर अनिश्चित के लिए निश्चित का परित्याग क्यों किया जाय? जब आधुनिक युग ने महाकाव्य-परम्परा के विकास का ही निषेध कर दिया तो भला मधुवन क्यों न प्रभावित होता? मधुवन और महाकाव्य दोनों सामन्तयुगीन संस्कृति की उपज हैं। सामन्तशाही में दोनों को प्रतिष्ठा मिली और दोनों का विकास हुआ। जब पूंजीवाद का घर्घर रथ उसे कुचलता हुआ आगे निकल गया तो दोनों को चित की खानी पड़ी। फिर भी दोनों का महत्त्व है, उपयोगिता है। उनसे आज भी रस लिया जा सकता है लेकिन उस ढंग से नहीं, आज के ढंग से। मधुवन तब भी महकता था और अब भी महकता है। अन्तर इतना है कि पहले दुष्यन्तों के लिए, उनकी इच्छानुसार महकता था और अब, वह किसी भी इच्छा-अनिच्छा का मुहताज नहीं, वह स्वतन्त्र है। उसका महकना अथवा न महकना उसकी इच्छा का परिणाम है। उसकी गंध का बोध अब स्वतन्त्र चित्त से ही किया जा सकता है। हमारे राष्ट्रीय जीवन में घटने वाली घटनायें, जुलूस, विरोध, प्रदर्शन और उनपर फेंके जाने वाले कंकण-पत्थर, लाठी-डण्डे इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि अब मधुवन पर किसी दुष्यन्त का नहीं, आम आदमी का अधिकार है। यह बात दूसरी है कि वे उसकी गंध को किस रूप में स्वीकार करते हैं।

बुल्लो

इस बार जब मेरे तुलसी को आधुनिक जीवन के संत्रास ने डस लिया तो मुझे अपने गांव का स्मरण हो आया। वैसे अब मेरा अपने गांव से वैसा लगाव नहीं है, फिर भी जब कभी नगरीय पर्यावरण से मन झुंझला उठता है और शोर-शराबे की दुनियां से दूर कहीं निर्वेद रस का पान करना चाहता है तो मैं गांव की ओर उन्मुख होता हूं जैसे कभी तुलसीदास का नकुल भव-भुजंग के डसने पर चित्रकूट की ओर भागता था। मैं अपने चित्रकूट से कितना सचेत होता हूं इस विषय में तो कुछ नहीं कह सकता, पर इस बार के प्रवास से प्राप्त सूचना के कारण मन अवश्य कचोट गया है। वैसे मेरे जैसे महानगरों में रहने वालों के लिए सूचनाओं और घटनाओं का महत्त्व निरर्थक हो गया है लेकिन आज बुल्ली के मृत्यु-समाचार ने मन को आर्द्र करके विचारों के चौराहे पर खड़ा कर दिया है।

□

उस बार जब लम्बे अन्तराल के बाद मैं दूसरा आदमी बनकर गांव गया था तो वह बहुत उदास था और कुछ झुंझलाया हुआ भी। गांव के बिगड़े जमींदार से उसकी कुछ कहा-सुनी हो गई थी। यों तो अपना संविधान दसकों पूर्व ही मनोभावों को व्यक्त करने की आजादी दे चुका है और विविध क्षेत्रों में उसके लाभ भी मिल रहे हैं, पर आज भी गांवों की सामाजिक व्यवस्था में यह अधिकार सभी को प्राप्त नहीं है। बुल्ली ने उस अप्राप्त अधिकार का प्रयोग करके जमींदार की पुत्री का

'उम्रादा' उसके इच्छित दिन से दो दिन बाद ले जाने को स्वीकार किया था। जमींदार ने उसके निवेदन को अवज्ञा मानकर उसे गांव से निकाल देने की धमकी दे दी थी। संभव था उसे प्रताड़ित भी किया होता यदि उसके प्रतिद्वंदी और बुल्ली के हमदर्द उस सरीखे और जमींदार न होते। फिर बुल्ली की ग्राम्य जीवन में अपनी आवश्यकता थी। उसके अभाव में रोजमर्रा का जीवन सुचारु रूप से नहीं चल सकता था। वह अपनी जाति का अकेला घर और व्यक्ति था। उसका भतीजा लम्बे अरसे से अनिकेतन वासी हो गया था।

बुल्ली को कुछ लोग बुलाकी नाम से भी पुकारते थे। उसका यह नाम विशेष अवसरों का था। जब कभी वह बारात में होता अथवा त्योहार-रस में मगन होता तो उसे उससे अधिक उम्र वाले प्रायः इसी नाम से पुकारते थे। उसे इस नाम से पुकारे जाने पर कोई आपत्ति भी नहीं थी और रही भी हो तो कौन जाने? कभी किसी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। वह गांव की प्रजा था। उससे सभी को हंसने और मन बहलाने का अधिकार प्राप्त था। जब जब मैंने उसे इस नाम से पुकारे जाने पर उन्मुक्त भाव से हंसते हुए देखा है, तब तब मुझे लगा है कि वाकई उसे यह नाम बुरा नहीं लगता। नामों के साथ तो ऐसा होता ही है। कभी वे बदल जाते हैं और कभी-कभी बिगाड़ दिये जाते हैं। मैंने भी बहुतों को बदले नामों से पुकारा है और कभी-कभी किसी को नया नाम दे भी दिया है। लेकिन मेरा अभीष्ट कभी किसी के नाम को बिगाड़ना नहीं रहा है। मुझसे यदि ऐसी ट्रेजडी हुई है तो उन्हीं कारणों से जिनसे नाम बदल जाते हैं अथवा शब्दों का रूप परिवर्तन होता है। यदि मैंने 'फ़ैजूल' को 'बेफजूल' और 'अरकान' को 'अकारान्त' कहा है तो इसका कारण आत्मीयता और मनोविनोद रहा है लेकिन जब किसी युधिष्ठिर ने किसी सुयोधन को दुर्योधन कहा तो इसके पीछे उसके विजेता मन की दुर्भावनाएं रही हैं। इतिहास के पृष्ठ इस प्रकार से बिगड़े नामों और उनके कारण घटी घटनाओं से भरे पड़े हैं। दुर्भावनावश किसी के नाम को बिगाड़ने की प्रवृत्ति घातक और ऐतिहासिक चेतना के विपरीत है। इस प्रवृत्ति के कारण आज भी अनेक दुखद घटनाएं घट जाया करती हैं। लेकिन जब कोई बालक अपनी तोतली बोली के कारण किसी को बिगड़े नामों से पुकारता है तो हंसी के फौव्वारे छूट जाते हैं। हम बार-बार उस बालक के मुख से उस नाम

को सुनना चाहते हैं। अनजान में बदले नामों पर हम कान नहीं देते, मुस्कराते हैं और मुस्कराने का आमंत्रण देते हैं।

उस दिन के अतिरिक्त मैंने बूल्ली को कभी इतना उदास नहीं देखा था। उस दिन भी उसकी उदासी का कारण जमींदार की धमकी नहीं थी। जब मैंने उसे सुरक्षा दिलाने की बात कही थी तो उसने साफ कहा था, 'अरे पण्डित जी, यह कोई नई बात है। हमारा जन्म ही जुल्म और अत्याचार सहने के लिए हुआ है। रही बात बाबू साहब की तो वे मेरा क्या कर लेंगे। हमारी कौन-सी इज्जत है कि बेइज्जती से डरूं। उनकी तो जमींदारी चली गई, उसकी खुमारी तो निकलनी चाहिए।'

बुल्ली को दरअसल झुंझलाहट अपने जातिगत व्यवसाय से थी जिसमें वह अपने को कठपुतली मानता था। कैसी भी स्थिति हो, कैसा भी अनुष्ठान हो, कोई भी उत्सव हो, कोई भी संस्कार हो उसमें उसकी पहली आवश्यकता थी। हर स्थिति में उसे दूसरों के संकेत पर नाचना पड़ता था। नाचते-नाचते उसने अनुभवों के जिस खजाने को अर्जित किया था और उसके परिवेश में उसकी जिस चेतना का निर्माण हुआ था आज उसी की टीस से उसका मन उदास था। विचारों के स्तर पर वह स्वीकार करता था, यदि उसने भी उस बोझ को, जिसे उसके बाप-दादे बिना आह भरे ढोते चले आये हैं, ढो लिया होता तो कम से कम कुछ क्षणों के लिए उस कन्या के आंचल को खुशियों से भर दिया होता जिसकी आंखें बरसों से मायके का पंथ निहारते-निहारते पथरा गई हैं। न जाने उसे ससुराल की किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा हो। बुल्ली की इस भावना को जानकर उस समय मेरी चेतना उसके विवेक जल से भीग गई। मुझे लगा, यह गंवार आदमी जिसने कभी विद्या नहीं पढ़ी, किसी पाठशाला का मुंह नहीं देखा, वेद-शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया, केवल दूसरों के सुख-दुख में सड़ता-गलता रहा है, मुझसे कितना बड़ा और महान् है। मुझे पहली बार बोध हुआ कि जो हम पढ़ते हैं अथवा हमें पढ़ाया जाता है, वह अब अर्थहीन हो चुका है और जिसे हम अर्थहीन समझकर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं वही पढ़ने और पढ़ाने का विषय है। जी चाहता है कि अब अपनी किताबों को फेंक कर जीवन के अरण्य में विचरण करूं और नगर-नगर ढिंढोरा पीटूं की अब पुस्तकों का ज्ञान बासी होने के कारण नीरस हो गया है। उसमें सरसता और ताजगी तब तक नहीं आयेगी जब तक उसका

तादात्म्य यथार्थ जीवन से नहीं होता। इसके लिए हमें भूखे-नंगे कहे जाने वाले आम आदमियों की मनोव्यथा को समझना होगा और उनके जीवन के साथ अपने जीवन की संगति बैठानी होगी अन्यथा आज की विद्या और साहित्य को मरा समझिए। उससे किसी का उपकार नहीं हो सकता और न किसी बुल्ली की भाषा समझी जा सकती है।

जब मैं गांव में होता तो कोई ऐसा दिन नहीं जाता जब बुल्ली मेरे पास न आता और अपने अनुभवों का उन्मुक्त भाव से आस्वादन न कराता। मेरा आधुनिक भाव-बोधक मन भी छककर उसके वार्तारस का पान करता। यद्यपि मेरे पिता जी जैसे अन्यों की दृष्टि में वह गप्पी और आलसी था। उसकी बातों में कोई सच्चाई नहीं थी। नाइयों की बात का क्या भरोसा परन्तु मैं उसकी बातों की तुलना में, बातों के कहने के अन्दाज में सच्चाई ढूढ़ता था जिसके कारण वह बिगड़ती बात को बनाकर टूटते हुए नये रिश्तों को जोड़ देता था। प्रशस्तिगान में तो राजस्थान के चारण भी उससे पीछे रह जाते थे। मेरे ऊपर तो उसके वक्तृत्व की धाक बहुत पहले बचपन में ही जम चुकी थी। उस प्रभाव और आदत के कारण उसके बहुत से निरर्थक शब्दों, वाक्यों और विचारों को अनिच्छा की स्थिति में सुनना पड़ता था। बाद में वह भी मुझसे बात करते समय कुछ रिजर्व-सा रहने लगा था, लेकिन भावना के आवेश में अधिक समय तक रिजर्व नहीं रह पाता था। सच तो यह है कि मुझे उसकी सपाट बयानी से आनन्द मिलता था। इस कारण उसे कभी टोकने का प्रयास नहीं किया। लेकिन जब कभी उसके प्रश्नों का जवाब देना पड़ता था तो निश्चय ही बहुत कष्ट होता था और कभी-कभी झुंझलाहट भी। उसके प्रश्न अन्तर्मन को स्पर्श कर जाया करते थे।

बुल्ली को राजनीतिक गतिविधियों से बड़ी दिलचस्पी थी और इस दिलचस्पी का कारण उसका निजी स्वार्थ था। वह जातीय शोषण से बुरी तरह टूट चुका था और किसी भी स्थिति में उससे मुक्ति चाहता था। उसकी भूमिहीनता और विपन्नता उसकी मुक्ति में बाधक थी। इस कारण स्वतंत्र भारत की बनी हर नई सरकार के नारों से उसकी आंखें चमक उठती थीं और चुनाव के समय दिवालों पर लिखे नारों के मिटने के साथ-साथ उसके विश्वास का सूरज भी डूब जाता था। एक बार वह किसी दल के नारे से ऐसा प्रभावित हुआ कि उसे समर्थन

जुटाने में रात-दिन एक कर दिया। दल विजयी हुआ और उसकी सरकार भी बनी, पर बुल्ली का आशा वृक्ष पुष्पित नहीं हुआ।

अपने अंतिम दिनों में वह जीवन से ऊब चुका था। उसका स्वास्थ्य भी तेजी से गिर रहा था। रोज के बुखार से उसका शरीर क्षीण हो चुका था। उसका आयत्त मुख त्रिभुजाकार हो गया था और रंग पहले से भी और काला। उसके मुस्कुराहट का अंदाज भी बदल गया था। आंखें कोतड़ में समाकर मध्यिम ज्योति वाली हो गयीं थीं। अधेड़ावस्था में ही वह बूढ़ा-सा दीखने लगा था। जब मैंने उससे गिरते स्वास्थ्य का कारण जानना चाहा तो उसने अनमनस्क भाव से कहा, 'एक-दो हो तो बताऊं। यहां तो कारणों में ही जीवन बीत गया। लेकिन अब जीने की इच्छा नहीं रह गई है, पण्डित जी। जीवन का बोझ अब ढोया नहीं जा रहा है। अब तो दिन गिन रहा हूं। न जाने कब जमराज का बुलावा आ जाय।' मैंने समझ लिया कि यह बुल्ली के जीवन की सान्ध्यवेला है। अब इसे कोई नहीं बचा सकता। जब उसमें ही जीने की आकांक्षा नहीं तो उसमें जीने का भाव कौन भर सकता है। मैंने उसे समझाते हुए कहा, 'बुल्ली, तुम तो जानते ही हो और दूसरों को समझाते भी रहे हो कि 'हानि लाभ जीवन मरण यश अपयश विधि हाथ' तो तुम जीवन से इतने निराश्रित क्यों हो गये? फिर यदि जीवन है तो सुख-दुख का स्वाद लेना ही होगा। सभी को तो सब कुछ नहीं मिलता। जो मिल गया उसी में संतोष करना चाहिए...।'

लेकिन मेरे उपदेश का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसके मन के घोड़े हार चुके थे। उसने बड़े शान्त भाव से मुझसे पूछा, 'पण्डित जी, आप बहुत पढ़े-लिखे हैं, विद्वान् हैं और किताब भी छापते हैं, बस इतना ही बता दीजिए कि जातीय शोषण का अंत कब होगा? आदमी, कब आदमी को आदमी समझेगा और उसे जीने की पूरी आजादी देगा?' बुल्ली के इस प्रश्न का उत्तर मेरे पास नहीं था और आज भी नहीं है। फिर भी मैंने उसमें आस्था जगाने की नीयत से कहा, 'इस विषय में निश्चय ही बुल्ली, मैं कुछ नहीं कह सकता, पर संभावना का सूरज उग चुका है। जल्दी ही बादल छटने वाले हैं। आलोक से शीघ्र ही दिशाएं अलोकित होंगी। अब इन समस्याओं का अन्त ही समझो।

'यह सब छलावा है पण्डित जी, मुझे क्यों छल रहे हैं। कहीं आंसू पोंछने से आंसू का निकलना बंद होता है?' मैंने कहा, 'शायद बुल्ली

तुम ठीक कह रहे हो।'

इसके बाद बुल्ली से न मिल सका। बाद में पिताजी से मालूम हुआ कि अंतिम क्षणों में वह इस विपन्नावस्था तक पहुंच चुका था कि उसे अपने दाह-संस्कार पर भी अविश्वास हो गया था। मरने के कुछ दिन पूर्व अपने पड़ोसी जोगी ठाकुर से उसने अश्रुपूरित नयनों से कहा था, 'बाबू, हमें जरूर फुकवा दीहा।' जोगी ठाकुर ने वैसा ही किया। अब उसका अंतिम संस्कार हो गया है। उसे जीवन से मुक्ति भी मिल गई है। कुछ ही दिनों में वह गांव वालों के मन-मस्तिष्क से भी ओझल हो जाएगा। लेकिन आज जब मैं भारी मन लिए वाराणसी लौट रहा हूं तो उसके पूछे प्रश्न मेरे मन-मस्तिष्क में शूल की तरह गड़ रहे हैं। लग रहा है कि वह मुझसे पूछ रहा है, 'बताओ न पण्डित जी, जातीय शोषण का अंत कब होगा? आदमी, आदमी को कब आदमी समझेगा?' तब मेरा सिर उसके सामने झुक जाता है। मेरा नकुल सचेत होकर चिल्ला उठता है—आंसू पोंछने से आंसू का निकलना बन्द नहीं होता।

चौधरी

आज जब गांव की नदी को पार करते समय मेरा एक पैर दलदल में फंस गया तो मुझे चौधरी की याद आ गई। उस दिन भी तो मेरा एक पैर इसी तरह दलदल में फंस गया था जिसे बल्ली ने सहारा देकर निकलवाया था। लेकिन आज बल्ली तो है, पर वह जीव नहीं जिसके साथ रहने में मुझे कभी अधिक प्रसन्नता होती थी।

जब चौधरी का जन्म हुआ, उस समय मेरी उम्र करीब बारह-तेरह की थी और मैं आठवीं कक्षा में पढ़ता था। उसके जन्म लेने से हमारे परिवार के सदस्यों की संख्या तीन से बढ़कर चार हो गई थी। मुझे इस बात की प्रसन्नता थी कि मुझे एक नये जीव के साथ खेलने का अवसर मिला। वैसे तो खेलकूद में मेरी प्रारंभ से ही रूचि नहीं थी। इस कारण मेरी दोस्ती भी गांव के लड़कों से बहुत कम थी। फिर बचपन में ही मां की मृत्यु से मुझे जो आघात पहुंचा था उससे मेरे बालमन का उल्लास असमय में ही सूख गया था और अकेले में रहने की आदत पड़ गई थी। चौधरी के जन्मने से मेरे जीवन की धारा ही बदल गई। मेरे अकेलेपन की वीरान जिंदगी में वसन्त की कोपलें फूटने लगीं।

कहने को भले ही बाप-बेटे से परिवार बन जाता है लेकिन बिना मां के परिवार का ढांचा नहीं बन पाता। चूंकि हमारे परिवार में इसका अभाव था इसलिए हमारा घर, केवल घर था, परिवार नहीं जिसमें हम बाप-बेटे के साथ जमुना और चौधरी रहते थे। हम चारों एक-दूसरे को स्नेह करते थे।

मां के न रहने से घर का अधिकांश काम मुझे ही करना पड़ता

था। उसमें जमुना और चौधरी की देखभाल भी थी। पिताजी का अधिकांश समय 'जजमानी' (पौरोहित्य-कर्म) में ही निकल जाता था। हमारी गृहस्थी में उनका सहयोग बहुत कम मिल पाता था। जब मैं स्कूल जाता तो जमुना और चौधरी को खिला-पिलाकर जाता और बीच में जब पिताजी आते तो दोपहर में उन्हें 'सानी-पानी' (भूसा और पानी का मिश्रण) दे देते थे। कभी-कभी वे सुबह निकलते तो सांझ को ही घर लौटते। इस स्थिति में ये दोनों निरीह प्राणी पूरे दिन निराहार रह जाते और जब मैं स्कूल से लौटता तो मुझे दूर से ही देखकर हुंकार पड़ते और मैं किताबें फेंक कर उनकी ओर दौड़ पड़ता। उन्हें नाद पर लगाता, सानी-पानी देता, किताबें उठाकर यथास्थान रखता, फिर अपने 'दाने-पानी' (स्वल्पाहार) की चिन्ता में लग जाता।

चौधरी जब तक छोटा था तब तक मैं उसे अपने साथ ही सुलाया करता था। जाड़े के दिनों में वह मेरी ही रजाई में सोता था और गर्मियों के दिन में मैं उसे अपनी ही खाट में बांध लेता था। जब कभी नहीं बांधता तो भी वह मेरी चारपाई के पास ही आकर बैठता। जब वह मेरे साथ सोता तो सफाई का पूरा ध्यान रखता। जब उसे मलमूत्र त्यागना होता तो वह रजाई लिए-दिये उठ जाता और मैं उसे बाहर निकाल देता। बाद में वह पुनः रजाई में आ जाता और मैं उसे ढक लेता। कभी-कभी उसके गले से लिपट जाता। वह अपना सिर मेरे ऊपर रख देता।

न जाने चौधरी को कैसे मालूम हो गया था कि मुझे सबेरे उठकर पढ़ना चाहिए। जब कभी मैं आलस्यवश अथवा जाड़े के कारण नहीं उठना चाहता तो वह मेरे मुंह को इस कद्र से चाटने लगता कि उसकी चिकनी-चिकनी जीभ की गुदगुदी से बाध्य होकर मुझे उठना ही पड़ता। जब मैं लालटेन जलाकर पढ़ने लगता तो वह फिर चुपके से सो जाता। सूर्य की प्रथम रश्मियों के साथ जब ग्रामीण जीवन में चहल-पहल मच जाती तो वह भी बैठे-बैठे धीमी आवाज में 'ब्यां-ब्यां' करने लगता और तब तक करता रहता जब तक मैं उसके शरीर को स्पर्श नहीं करता, लालटेन बुझाकर उठ नहीं जाता। मेरे उठने के साथ-साथ वह भी उठ जाता और दौड़ते हुए जमुना के पास जाकर पूछ हिला-हिला कर दूध पीने लगता। मुझे इस बीच जिस गति से काम करना पड़ता था उसका आप अनुमान नहीं लगा सकते। जमुना को बाहर निकालना, उसे लेहना

देना, दूध ग रने के लिए बर्तन लाना, चौधरी के गले में रस्सी ड लना और जमुना से अलग करना, फिर दूध गारने बैठ जाना। ये सारे कार्य इतना जल्दी निपटाने पड़ते कि थोड़ी सी लापरवाही से पूरा का पूरा दूध चौधरी के पेट में चला जाता और हम बाप-बेटे मुंह देखते रह जाते। जब कभी मुझसे ऐसी असावध.नी हो जाती तो पिता जी प्राय: मुझसे नाराज हो जाया करते थे। उनकी दृष्टि में यह असावधानी मुझसे जानबूझकर होती थी। बात भी सच थी। कभी-कभी जानबूझकर भी ऐसी असावधानी कर जाया करता था। सोचता था, आखिर जमुना चौधरी की ही मां है। उसके दूध पर उसी का अधिकार है। उसे हम क्यों छीनें ? इस विचार मात्र से मेरा किशोरमन करूणार्द्र हो जाया करता और मैं कभी-कभी चौधरी को पूरा का पूरा दूध पीने की इजाजत दे देता। ऐसी स्थिति प्राय: उसी समय आती जब पिता जी घर से बाहर होते।

चौधरी जितना सीधा था जमुना उतनी ही शरारती। छूट जाती तो जल्दी पकड़ में नहीं आती। पूरे गांव की कम से कम दो बार पूछ उठाकर दौड़ती हुई परिक्रमा करती, फिर कहीं जाकर वश में आती और जब रस्सी में बंध जाती तो कभी-कभी मैं अपना गुस्सा भी उतार लिया करता था। गुस्सा उसके खुलने का नहीं होता, वह जो पूरे गांव की परिक्रमा करती थी, उसका होता था। उसकी इस शैतानी से मुझे कई बार विद्य लय देर से पहुंचना पड़ा है और अनेक बार अध्यापकों से डाट सुनने को मिली है। कभी-कभी तो विद्यालय में बैठने की अनुमति ही नहीं मिलती थी। इस स्थिति में कोई भी क्रोधित हो सकता था। जब कभी जमुना को पीटता तो चौधरी कातर दृष्टि से अपनी मां को देखने लगता और मैं उसके मर्म को, मां के प्रति सहानुभूति को जानकर छोड़ देता। पिताजी को यह पसन्द नहीं था। उनका हिन्दू संस्कारी मन इस स्थिति के लिए तैयार नहीं था। उनकी दृष्टि में गाय पर हाथ उठाना अपनी मां पर हाथ उठाना है। मां पर हाथ उठाने वाले व्यक्ति की समाज में, कम से कम हिन्दू समाज में प्रतिष्ठा नहीं होती। कुछ लोगों का तो यहां तक कहना है कि मां की अवहेलना करने वाला व्यक्ति कभी सुखी नहीं रहता और उसका परलोक भी बिगड़ जाता है। जहां तक मेरा अनुभव है मुझे ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं दिखाई दिया जो मां की अवहेलना के कारण दुखी हो। हां परलोक की बात

नहीं जानता और न जान ही सकता हूं। जो भी वहां गये लौटकर नहीं आये और न तो उनका कोई सन्देशा ही मिला। इस स्थिति में परलोक की बात का कोई अधिक महत्त्व नहीं दीखता। लेकिन जिसका हम निरीक्षण करते हैं, उसके आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि मां की अवहेलना करके पुत्र भले ही दुखित न हो, पर मां तो दुखित होती है। कभी लड़कों से तो कभी बहुओं से। फिर भी मां अपने बच्चों को दुखित नहीं देखना चाहती। उसे कष्ट में देखकर उसकी आंखें भर आती हैं।

मेरे पिताजी प्रायः एक भोजपुरी गीत गाया करते थे जिसकी केवल पहली पंक्ति इस समय मुझे याद है—'मत मारो बेदरदा, गइया हूं रे, तेरी मइया हूं रे···।' उस समय तो इतना ज्ञान नहीं था कि इस गीत की बारीकियों को समझता, लेकिन आज जब इस पर विचार करता हूं तो बहुत से प्रश्न मस्तिष्क में उठते हैं। गाय और मां की स्थिति निरीहता की है। जीवन के अन्तिम समय में मां भी गाय की तरह अपने पुत्रों पर आश्रिय हो जाती है। पहले वह पति-प्रेम में और बाद में पुत्र-प्रेम में बंधकर परतंत्र हो जाती है। उसके सोचने-विचारने के तौर-तरीके कुछ और प्रकार के होते हैं जिनकी सीमा मुख्यतः परिवार, धर्म और समाज तक प्रसृत होती है। वस्तुतः ये तीनों बंधन के प्रतीक हैं। इनके समन्वित आचरण से व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन को सरल तथा सुविधाजनक बना लेता है। इस प्रक्रिया में नारी उसकी सहयोगिनी होती है। उसमें कर्त्तव्यों के प्रति भाव जागृत करती है। फिर भी पुरुष उनसे कतराता है। वह स्वभाव से स्वच्छन्दताप्रिय होता है लेकिन दूसरों को, विशेषकर नारी को परतंत्र बनाने में गौरवान्वित होता है। नारी की स्थिति इससे भिन्न है। उसे परतंत्रता में ही सुख मिलता है। इनमें अनुरक्त होना ही वह अपना कर्त्तव्य समझती है। इसी कारण उसे गृहलक्ष्मी तथा गृहस्वामिनी कहा जाता है।

एक वर्ष बाद जब चौधरी बड़ा हो गया तो उसे जमुना के साथ जानवरों के झुण्ड में चरने के लिए छोड़ दिया गया। अब वह वहीं रहने लगा। जहां उसके साथ मेरा अधिकांश समय व्यतीत होता था अब उससे कभी-कभी भेंट होने लगी। ऐसा तभी होता जब वह अन्य ढोरों के साथ चरते हुए बस्ती के पास आता तो वह अपने साथियों को छोड़कर घर चला आता और बहुत प्रयास के बाद ही वापस

जाना। जब कभी मैं घर पर नहीं होता, उस समय वह शीघ्र लौट जाता। पिता जी का रोकने का प्रयास निष्फल जाता। उसे मेरे अभाव में खाने-पीने की चीजें भी अच्छी नहीं लगती थीं। मैं भी उसके अभाव में सूनेपन का अनुभव करता था। मेरी आवाज सुनकर उसके कान खड़े हो जाते थे और वह पागलों की तरह दौड़ पड़ता। जब कभी उससे मेरी भेंट सीवान (मैदान) में होती तो वह हुंकार मारकर मेरे पास आ जाता और पीछे-पीछे चलने लगता। जब तक मैं उसे भरपूर प्यार नहीं देता, उसके गले से लिपटकर उसकी पीठ नहीं सहलाता तब तक वह किसी भी स्थिति में मेरा साथ छोड़ने को तैयार नहीं होता। उसकी इस क्रिया से मुझे अधिक तोष मिलता था। जब वह मेरे साथ-साथ चलता तो देखने वालों की आंखें अटक जाती थीं। उनकी दृष्टि में मैं जानवर भक्त था। बात भी ठीक थी। आखिर मैं भी तो जानवर ही हूं। यह बात दूसरी है कि सामाजिक हूं, ज्ञानयुक्त हूं। वैसे न तो सामाजिक हूं और न ज्ञानी। समूह में रहता हूं इसलिए गिन लिया जाता हूं। लेकिन चौधरी की गणना मेरे साथ रहने के बाद भी असभ्यों में होती थी क्योंकि वह जाति से पशु था। जाति में परिवर्तन नहीं होता।

नवीं कक्षा पास कर जब मैं दसवीं में पहुंचा तो चौधरी लगभग दो वर्ष का हो गया था और ढोरों के झुण्ड का सरदार बनकर मस्तीपूर्वक इधर-उधर घूमने लगा। कभी-कभी अवसर पाकर जातिसूचक आचरण भी कर बैठता जिससे उसके अन्य कमजोर साथियों को कष्ट पहुंचता था। फिर भी चौधरी अधिक संस्कृत था। उसकी सींगे बहुत नुकीली थी। उसकी तीक्ष्णता का मुझे तीखा अनुभव है। चौधरी की यह आदत उसके स्वभाव और उम्र के अनुकूल थी। वह किशोरावस्था में प्रवेश कर रहा था।

उस दिन सांझ को जब विद्यालय से घर पहुंचा तो चौधरी को देख कर अवाक रह गया। उसकी उपस्थिति इस समय अज्ञात भय का निमंत्रण दे रही थी। पिता जी भी घर पर नहीं थे। किसी काम से कुछ दिनों के लिए बाहर गये हुए थे। चौधरी चुपचाप मन मारे हुए ओसारे में बैठा था। उसका गला सूजा हुआ था और मुख से लार टपक रही थी। उसका लौह रंग मटमैला लग रहा था, फिर भी मुझे देखकर सदा की तरह उठ खड़ा हुआ। उसकी स्थिति देखकर मेरा गला भर गया। हाथ की पुस्तकों को वहीं छोड़कर चौधरी को प्यार करने

लगा। उसने अपना सिर मेरे कन्धे पर रख दिया। उसकी लार मेरी पीठ पर टपकने लगी। मेरी आंखों से आंसुओं की धारा उमड़ रही थी। मैं यह निर्णय नहीं कर पा रहा था कि क्या करूं ? यद्यपि गांव में बहुत से लोग ऐसे थे जिन्हें पशुओं की बीमारी का अच्छा ज्ञान था और वे देशी दवाओं से उपचार भी करते थे, लेकिन मेरा मन प्रारम्भ से ही ऐसे उपचारों से उदासीन था। इनकी वैज्ञानिकता पर मुझे संदेह था। अन्ततः मैंने निर्णय लिया कि चौधरी को समीप के राजकीय अस्पताल में दिखाना चाहिए। चौधरी के सिर को कंधे से उतारकर जब मैंने उसे बाहर चलने का संकेत दिया तो वह धीरे-धीरे ओसारे से बाहर निकला और कुछ देर तक रुककर घर की ओर देखता रहा, फिर मेरे साथ चलने लगा। मुझे लगा कि अब चौधरी से जुदाई का समय है, फिर भी मैं पूरे विश्वास के साथ उसे बचाने के लिए कृत संकल्प था। जब हम दोनों नदी के किनारे पहुंचे तो अंधकार धीरे-धीरे दबे पांव आ रहा था। नदी की धारा शान्त थी। हवा शान्तचित होकर अंधकार का स्वागत कर रही थी। बल्ली अपनी नाव को बांधकर किनारे पर चुपचाप इस आशय से बैठा था कि कोई राम उसकी नाव से पार उतरेंगे और उसके जीवन को धन्य कर देंगे। हमें देखते ही वह उठ खड़ा हुआ। चौधरी को बीमार देखकर उसे भी कष्ट हुआ। चौधरी जब नाव पर चढ़ने लगा तो रूग्णता के कारण नहीं चढ़ पा रहा था। बल्ली ने उसे सहारा देकर ऊपर चढ़ाया और जब मैं चढ़ने लगा तो देखते-देखते मेरा एक पांव घुटने तक दलदल में घुस गया। बल्ली ने सहारा देकर मुझे भी बाहर निकाला।

अस्पताल पहुंचते-पहुंचते दिशाएं एक-रस हो चुकी थीं। घने अंधकार में वृक्ष उस तपस्वी से जान पड़ते थे जो तपना चाहकर भी मानसिक उद्वेग के कारण तप नहीं पाते। पत्तों की प्रत्येक खड़खड़ाहट से चौंकता हुआ मेरा मन अज्ञात भय से कांप रहा था। जिस चौधरी को देखकर मेरा मन कौतुकमग्न हो जाया करता था आज उसी को देखकर मेरा खुद का जीवन फिल्म रील की तरह प्रकट हो रहा था और अंधकार में समाए हुए वातावरण की तरह जीवन की कोमल अनुभूतियां बुझते हुए दीपक की तरह मानस-पटल पर चमत्कृत होकर विस्मृत में खो जा रही थीं। वातावरण में एक अजीब किस्म का अवसाद था। फिर भी चेतना साथ थी और मुझे लग रहा था सम्भवत:

यह मेरा अपना ही अवसाद है जो इस समय प्रकृति के माध्यम से प्रकट हो रहा है।

जब अस्पताल पहुंचा तो हम दोनों बुरी तरह थक चुके थे। पांव लड़खड़ा रहे थे। चौधरी अपनी बीमारी के कारण और मैं अपने मानसिक उहापोह और विषाद से। चूंकि अस्पताल का संतरी मुझे पहचानता था इस कारण आने का कारण जानकर डाक्टर को सूचित करने चला गया। डाक्टर के आने तक मेरा मन किस घनी संवेदना में डूबा था, नहीं कह सकता। मन फटा जा रहा था, फिर भी आंखों में आंसू नहीं, घबड़ाहट नहीं, सिर्फ एक कर्त्तव्य का भाव आगे बढ़ने की प्रेरणा दे रहा था और मन बार-बार उस संस्कारजन्य-भाव को दुहरा रहा था जिसके कारण मेरा अस्तित्व है, जिसके कारण मेरा पालन होता है और जिसके कारण एक दिन मेरा अंत हो जायेगा।

असमय आने के कारण डा० श्रीवास्तव तो झुंझलाए हुए अवश्य थे फिर भी उन्होंने अधिकारिक गर्व का परिचय नहीं दिया। वे स्वभाव से साधु प्रकृति के व्यक्ति थे। चौधरी के प्रति मेरे लगाव को देखकर उन्हें भी कुछ कष्ट हुआ और उन्होंने उसे बचाने का पूरा प्रयास किया, परन्तु सब असफल रहा। चौधरी को दूसरा प्रभात देखने को नहीं मिला। जब वह दम तोड़ रहा था, उस समय उसका सिर मेरी गोदी में था। हम दोनों की आंखों में आंसू थे। नियति के सामने हम हार रहे थे। मेरा लक्ष्मण मुझसे विदा हो रहा था और मैं निर्निमेष नेत्रों से उसे देख रहा था। मृत्यु के आगे मनुष्य कितना विवश होता है इसका बोध मुझे पहली बार हुआ था।

□

आज इन पंक्तियों को लिखते समय फिर एक बार मेरे राम के मन में मूर्च्छित लक्ष्मण की छबि अंकित हो जाती है। मन विलाप करने लगता है और आंखें बरसने लगती हैं। क्या अब चौधरी मेरे साथ नहीं है? जब सोचता हूं तो न जाने क्यों मेरा मन नकारात्मक उत्तर नहीं देना चाहता है। लगता है चौधरी अब भी जीवित है। वह मेरे मन की गहराइयों में समा गया है उसे निकालने के लिए मृत्यु को मुझे उखाड़ना होगा। अभी तो मैं चल रहा हूं, चलता जा रहा हूं तो चौधरी भी चल

रहा है, चलता जा रहा है। अन्तर इतना है कि पहले वह मेरे पीछे चलता था और अब आगे चल रहा है।

ग्रास्था के प्रहरी

मेरे एक मित्र का कहना है कि 'निराला साहित्य परिषद' के लिए मेरा निबन्ध ग्रावश्यक है ग्रौर मैं इस उलझन में हूं कि निराला पर क्या लिखूं ? बहुतों ने बहुत कुछ लिखा है। किसी ने उन्हें 'काव्य का देवता' कहा है तो किसी ने 'महाप्राण' ग्रौर किसी ने 'युगाराध्य' तो किसी ने 'ग्रात्महन्ता'। ग्रब बचा ही क्या है जिसपर लेखनी उठाऊं ग्रथवा उठाई जा सकती है। लेकिन मित्र का ग्राग्रह है उसे टाला भी नहीं जा सकता। जीवन में बहुत कुछ ग्रनिच्छा की स्थिति में करना पड़ता है ग्रौर लोग करते भी हैं तो मैं भी ग्रनिच्छा की स्थिति में कुछ लिखना चाहता हूं। इस दृष्टि से जब विचार करता हूं तो लगता है ग्रभी कहीं न कहीं कुछ गुंजाइश ग्रवश्य है ग्रन्यथा मित्र का ग्राग्रह न होता। शायद उसे विश्वास हो कि मैं इस गुंजाइश का लाभ उठा सकता हूं ग्रथवा मेरी ही लेखनी से कुछ नया लिखा जा सकता है। मैं दूने उत्साह से लेखनी उठा लेता हूं, पर ग्रब भी निर्णय नहीं कर पा रहा हूं कि क्या लिखूं। तभी मेरा एक मन चुपके से मेरे कानों में कह जाता है, 'क्यों चिंतित हो ! ग्रब तक निराला के विषय में जो कुछ भी लिखा गया है, वह ग्रपर्याप्त है, ग्रभी बहुत कुछ शेष है जिस पर भविष्य के कलावन्त लेखनी उठा सकते हैं ग्रौर यह भी सत्य है कि भविष्य में जो कुछ भी लिखा जायगा वह ग्रपर्याप्त ही रहेगा तो क्यों न निराला के जीवन का सर्वेक्षण करते।' ग्रन्तर्मन के इस सुझाव से मुझे बल मिलता है ग्रौर मैं ग्रपने चिंतक को इसी दिशा में छोड़ देता हूं तभी उसका साक्षात्कार मेरे विद्यार्थी जीवन से हो जाता है।



विजयपर्व के उपलक्ष्य में मेला लगा हुआ है और मैं स्वजनों के साथ रामलीला देख रहा हूं। तभी दो आदमियों की वार्ता सुनता हूं कि 'निराला जी मर गये।' मुझे नहीं मालूम निराला कौन हैं? उनके मरने से इन दोनों को किस प्रकार का कष्ट पहुंचा है। फिर भी मेरा किशोर मन इस संदर्भ को नहीं छोड़ना चाहता। दूसरे दिन विद्यालय जाता हूं और अपने अध्यापक से प्रश्न करता हूं, 'निराला कौन थे?' उत्तर में जो कुछ सुनने को मिला अब याद नहीं है। याद है तो सिर्फ इतना ही कि 'छायावादी कविता के महारथी।' सच बताऊं आज भी मेरे सामने यही प्रश्न है। इसी के उत्तर की खोज में मन भटक रहा है। सम्भवतः निराला का हर अध्येता इसी प्रश्न का समाधान चाहता है और आलोचकों का एक बड़ा समूह इसके उत्तर के लिए भाग-दौड़ मचाए हुए है। देखना है दोस्तों को इसका उत्तर कब मिलता है।

अबतक के बोध के सन्दर्भ में जब कभी मैं निराला का स्मरण करता हूं अथवा उनके साहित्य का सर्वेक्षण करता हूं तो निराला आस्था और विश्वास के कवि लगते हैं। हिन्दी साहित्य में उनका प्रवेश बहुत ही आस्था और विश्वास के साथ हुआ था और इस सन्दर्भ में उन्होंने जिस कर्मयज्ञ का आयोजन किया, उसका फल उन्हें नहीं मिला। बुर्जुआ साहित्यकारों तथा पत्रकारों को उनके साहित्य में कुछ नहीं मिला और मिला तो अनावश्यक प्रलाप और सन्निपात का रोग। यह स्वाभाविक था। वृद्ध के सामने बालक, लखपति के सामने रंक, पुराने के सामने नया का क्या महत्त्व? फिर भी निराला का किशोर साहित्यकार आस्था से हीन नहीं हुआ। विश्वास के साथ आगे बढ़ता रहा। उसे अपनी प्रतिभा पर विश्वास था। इसलिए वह अपने विरोधियों के सामने चुनौती के रूप में खड़ा हो गया।

अभी न होगा मेरा अन्त
अभी-अभी तो आया है
मेरे बन में मधुमय वसन्त
इसमें कहा मृत्यु
है जीवन ही जीवन

अभी पड़ा है आगे सारा यौवन
स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर
मेरे ही अविकसित राग से
विकसित होगा बन्धु दिगन्त ।

कैसा उत्साह है । कितनी ग्रास्था है ग्रौर ग्रपनी शक्ति पर कितना विश्वास है । मन कहता है निराला से भेंट हो जाती तो पूछता, महाकबि ! कहां से पायी यह जीजिविषा, कहां से सीखा जीने की कला ! यह तो मेरा भाव है, मेरी श्रद्धा है जिसके ग्राधार पर सोचता हूं, पर उनके ग्रालोचकों को इसका बोध कहां ? उन्हें क्या पता कि नव-ग्रंकुरण के लिए पतझड़ ग्रावश्यक है ग्रौर तुतली भाषा से ही शुद्ध भाषा की संरचना होती है । निराला इस ग्रवधारणा के पोषक थे । उन्हें मालूम था, जन्म से कोई महान् नहीं होता, परिस्थितियां ही व्यक्ति को महान् बनाती हैं । इसी कारण वे विरोधियों की बौछारों पर कान किये बिना ग्रात्मानुभव की दिशा की ग्रोर बढ़ते रहे । यह मार्ग उनका ग्रपना था । किसी के इंगित पथ पर चलना उनकी ग्रास्था के प्रतिकूल था—

सीधी राह मुझे चलने दो ।
अपने ही जीवन फलने दो ।
जो उत्पात घात आये हैं
और निम्न मुझको लाये हैं,
अपने ही उत्ताप बुरे फल
उठे फफोला से गलने दो ।

फिर भी, जब ग्रनाड़ी ग्रालोचक उनका पीछा नहीं छोड़ते ग्रौर उनके कृतित्व को निरन्तर झुठलाने का प्रयास करते हैं तो उनका ग्रन्तर्मन कराह उठता है । कवि का एक मन ग्रपने ग्रस्तित्व पर, ग्रपनी शक्ति पर ग्रविश्वास करने लगता है ग्रौर निष्कर्ष पर पहुंचता है कि जीवन का स्वर्णिमकाल बीत चुका है । ग्रब तो कुण्ठा ही शेष है—

हमारा डूब रहा दिनमान
मास-मास दिन-दिन प्रतिपल
उगल रहे हो गरल अनल
जलता यह जीवन असफल ।

कवि का असफल जीवन जलता तो अवश्य है, परन्तु स्थिर नहीं है। वह प्रतिपल प्रवाहित है और जब इस प्रवाह में कभी अवरोध आता है तो उसे संबल की आवश्यकता पड़ती है लेकिन संबल मिले तो किससे ? आलोचकों से, पाठकों से अथवा स्वयं अपने आप से। इस परिवेश में कवि का अपना ही जीवन संतापित करने लगता है। आस्था साथ छोड़ देती है। वृक्ष की डालियां ठूठी हो गई हैं। वसन्त के आने की सम्भावना नहीं। समूचा जीवन बिखर गया है। उसका कोई साथी नहीं—वह तो अकेला है, बिल्कुल अकेला।

मैं अकेला
देखता हूं, आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्य वेला
पके आधे बाल मेरे
हुए निष्प्रभ गाल मेरे
चाल मेरी मन्द होती आ रही है
हट रहा मेला...

परन्तु दूसरा मन हार खाकर भी हारता नहीं, असीम विश्वास के साथ चुनौतियों का सामना करता है। वह जानता है कि व्यक्तिवादी व्यवस्था में व्यक्ति का मूल्यांकन प्रतिभा से नहीं, साधन से होता है। साधन से ही व्यक्ति का सामाजिक स्तर बनता एवं बिगड़ता है। उसी से जीवन है, हर्ष है, विषाद है। यदि उसके पास भी प्रिन्स द्वारकानाथ ठाकुर का वैभव होता तो उसे भी रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसा सम्मान मिलता। उसकी भी स्तुति होती, समाचार पत्रों में अग्रलेख प्रकाशित होते। फिर भी वह हारता नहीं, उत्साह के साथ आगे बढ़ता है। विरोधियों का सामना करता है। अपनी उपलब्धियों पर विचार करता है और नई धारा का संवाददाता बनता है—

मैं जीर्ण साज बहु-छिद्र आज
तुम सुदल सुरंग सुवास सुमन
मैं हूं केवल पद-तल-आसन
तुम सहज विराजे महाराज ।
ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे यद्यपि
मैं ही वसन्त का अग्रदूत
ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि ।

फिर उसने अपनी प्रतिभा से लोगों को चकित भी किया है—

दिये हैं मैंने जगत् को फूल-फल,
किया है अपनी प्रभा से चकित-चल
पर अनश्वर था सकल पल्लवित पल
ठाट जीवन का वही
जो ढह गया है ।
अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा,
श्याम तृण पर बैठने को, निरूपमा ।
बह रही है हृदय पर केवल अमा;
मैं अलक्षित हूं, यही
कवि कह गया है ।

लेकिन सभी को तो सब कुछ मिलता नहीं; फिर सोचने से क्या लाभ ? महाकवि को इसकी चिन्ता भी नहीं । वह तो साधक हैं । मैं और तुम की सीमा से परे हैं । भूत और वर्तमान के सामंजस्यकर्ता हैं । उनके सामने उनका ही अतीत सजीव हो जाता है जिसमें उन्हें जय और पराजय दोनों मिली हैं । उनकी आंखों ने अलौकिक तेज देखा है, परन्तु आज वे झुरियों से घिरी हुई हैं । उन्हें मृत्यु की रेखा नीली दिखाई देती है—

चढ़ी थी जो आंख मेरी
बज रही थी जहां भेरी
वहां सिकुड़न पड़ चुकी है
बढ़ रही है रेख नीली।
आग सारी फुक चुकी है
रागिनी भी रुक चुकी है
याद करता हुआ जीवन
जीर्ण जर्जर आज तीली।

कवि शर-शय्या पर लेटे हुए पितामह की तरह अपने जीवन का अवलोकन करता है। उसका हृदय राग-द्वेष की सीमा से मुक्त हो चुका है। उसमें जय-पराजय के लिए कोई स्थान नहीं है। उसे किसी के प्रति न क्षोभ है न शिकायत। अब वह अपना अवसान पूर्ण पुष्पित पुण्य जैसा मानता है। इस कारण वह शान्त एवं प्रसन्न है। उसके हृदय में आस्था का प्रदीप जल रहा है जिसमें अज्ञात और अनन्त का अन्धकार-मय पथ आलोकित हो रहा है जिसके आधार पर वह निर्वाध गति से चिरशान्ति की ओर अग्रसर हो रहा है—

पत्रोत्कंठित जीवन का विष बुझा हुआ है
आशा का प्रदीप जलता है हृदय कुंज में,
अन्धकार पथ एक रश्मि से सुझा हुआ है
दिङ०निर्णय ध्रुव से जैसे नक्षत्र पुंज में
लीला का संवरण समय फूलों का जैसे
फलो फले या झरे अफल, पातों के ऊपर
सिद्ध योगियों जैसे या साधारण मानव
ताक रहा है भीष्मशरों की कठिन सेज पर।
स्निग्ध हो चुका है निदाध, वर्षा भी कर्षित,
कल शारद कल्प को, हेम लोमों आच्छादित,
शिशिर-भिद्य, बौरा वसन्त आमों आमोदित
बीत चुका है दिक् चुम्बित चतुरंग, काव्य, गति
यतिवाला, ध्वनि, अलंकार, रस-राग बन्ध के
वाद्य छन्द के रणित गणित छूट चुके हाथ से

क्रीड़ायें ब्रीड़ा में परिणत, मल्ल-मल्ल को,
मारे मुच्छित हुई, निशाने चूक गये हैं,
झूल चुकी है खाल ढाल की तरह तनी थी
पुनः सवेरा, एक और फेरा ही जी का।

क्योंकि उसके संघर्ष का इतिहास तो पहले ही समाप्त हो चुका है। अब तो उसे मंगललोक की कामना है। उसकी भावनाएं पवित्र हैं। वह अपना जीवन शान्तिपूर्ण ढंग से राम-नाम के मंत्रोचारण से समाप्त करना चाहता है।

जग उठा दूसरा विश्व चला
पग-पग छाया कुल भला-भला
संदेश शुद्ध मुख से निकला
दृग बन्द करो लो राम-नाम।

इस प्रकार जब भावों के अवरोहण-आरोहण के परिवेश में विचार करता हूं तो निराला का सम्पूर्ण जीवन एक ऐसे योद्धा का जीवन प्रतीत होता है जो केवल लड़ना जानता है। मैदान में पीठ दिखाने की तुलना में खेत हो जाना अधिक श्रेयष्कर समझता है। निराला को जीवन में सुख-दुःख, जय-पराजय सब कुछ मिला। लेकिन यह सत्य है कि दुःख ही उनके जीवन की कहानी रही है जिसका न आदि है और न अन्त। साधन की उपलब्धि के लिए किये गये प्रत्येक कामों में उन्हें निराशा ही मिली। फिर भी उनका संन्यासीमन अपने अवसान काल में अपनी सम्पूर्ण भावनाओं से परिस्थितियों का अतिक्रमण कर मानवता का साक्षात्कार करता है। जहाँ वे मानव नहीं, साधक हैं, तपस्वी हैं, आराधक हैं और आस्था के प्रहरी हैं।

कथा ने ही कथाकार बनाया

आज जब एक सम्मानित पत्र के लिए प्रख्यात् कथाकार अमृतलाल नागर की साहित्यिक मान्यताएं और रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में कुछ लिखने बैठा हूं तो बात उनके प्रथम साक्षात्कार की मस्तिष्क में आलोकित हो जाती है जो उनके आवास पर १९७२ में हुई थी। वैसे नाम से हम एक-दूसरे से पूर्ण परिचित थे, पर एक-दूसरे को देखने और परखने का पहला अवसर और क्रम आकाशवाणी लखनऊ से आरम्भ हुआ जहां मेरी उनकी पहली भेंट हुई थी। उस समय वे वहां किसी रेडियो नाटक के निर्देशनार्थ आये हुए थे और सुविधानुसार मुझे वहीं बुला लिया था। एक घण्टे की प्रतीक्षा के बाद जब हमारा साक्षात्कार हुआ और उन्हें पता चला कि हम देर से उनकी प्रतीक्षा में हैं तो उन्हें बहुत कष्ट हुआ। उनके अनुसार मुझे अपने आने की सूचना देनी चाहिए थी लेकिन मैंने ऐसा नहीं किया क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि अपनी सुविधा के लिए उन्हें किसी प्रकार की बाधा पहुंचाऊं। इस कारण प्रतीक्षा की उबन के बावजूद मैंने अपने आने की सूचना नहीं दी। जिस समय हमारी अनौपचारिक वार्ताओं का क्रम चल रहा था उसके कुछ समय बाद हमें शिक्षा सचिव से मिलना था और जब उन्हें इसका संकेत मीना से (मेरी पत्नी) मिला तो उन्होंने उस दिन की अपनी व्यस्तता का उल्लेख कर हमें दूसरे दिन सुबह घर आने का निमंत्रण दिया।



दूसरे दिन जब हम नियत समय पर उनके चौक स्थित आवास पर

मिले तो ऐसा लगा कि हम लोगों का एक-दूसरे से वर्षों का पारिवारिक सम्बन्ध है। वैसे मेरा बहुतों से संबंध है, आत्मीयता है, उनके यहां आना जाना है, परन्तु नागर जी से मिलने पर जैसा संतोष मिला, वैसा अभी तक कहीं सम्भव न हो सका है। कदाचित् इसी कारण हम पहली भेंट में ही परिवार और व्यवसाय से लेकर साहित्य-साधना की गति-विधियों तक विश्लेषण कर गये। मेरे मस्तिष्क में उस समय साहित्यिक सन्दर्भों में कथा-साहित्य का सन्दर्भ दीर्घकाल से गूंज रहा था और मेरा शोधकार्य भी इसी विषय पर नियत था इस कारण इस विषय से अधिक सुखकर विचार-विमर्श का कोई दूसरा सन्दर्भ नहीं हो सकता था। फिर एक कथाकार से ही कथा-विन्यास के क्षण की गहरी जानकारी हो सकती थी। जब मुझे अनौपचारिक वार्ता के क्रम में अव-सर मिला तो मैंने उनका ध्यान कथा साहित्य की ओर आकृष्ट किया और उनसे पहला सवाल किया कि पण्डित जी। अधिकांश आलोचक 'सेठ बांकेमल', 'नवाबी मसनद' और 'ये कोठेवालियां' को उपन्यास मानते हैं, क्या आप इससे सहमत हैं? प्रश्न से उनके चेहरे पर कुछ कसाव आ गया। मुझे लगा कि सवाल असमय पूछ लिया गया है, पर बाद में पता चला कि वे अपने आप को इण्टरव्यू के लिए तैयार कर रहे थे। उनके अनुसार इन कृतियों को उपन्यास मानना अथवा न मानना आलोचकों का विषय है। उनकी भूमिका तो रचनाकार की है जिसमें वे इन्हें उपन्यास नहीं मानते। उनके अनुसार 'सेठ बांकेमल' और 'नवाबी मसनद' लम्बी कहानी या रेखाचित्र हैं और 'ये कोठे-वालियां' इण्टरव्यू। यदि आलोचक इन्हें उपन्यास मानते हैं तो उसके पीछे उनका अपना दृष्टिकोण होगा। आज उपन्यास का रूप अधिक बदल गया है। इस बदले हुए रूप में शायद ये रचनाएं उपन्यास के निकट पहुंच जाती हों और वे इन्हें उपन्यास मान लिए हों।

क्या आप साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का अस्त्र मानते हैं? जब मैंने उनसे पूछा तो उन्होंने कहा कि सामाजिक चेतना के विकास और परिष्कार के लिए साहित्य को साधन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। साहित्य का संबंध विचारों से है और विचार का आधार समाज होता है। विचारों से ही सामाजिक तथा मानवीय मूल्यों का निर्धारण होता है। इस स्थिति में साहित्य को सामाजिक गतिविधियों से अलग नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि जब-जब समाज में

परिवर्तन हुए हैं, साहित्य उससे प्रभावित हुआ है। हिन्दी साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है। भारतीय समाज में जब व्यक्ति विशेष की प्रधानता रही तब साहित्य का रूप व्यक्ति प्रधान रहा और व्यक्ति अपने पूरे परिवेश के साथ कभी ईश्वर के रूप में उपस्थित हुआ तो कभी राजा-महाराजाओं के रूप में। किन्तु जब व्यक्ति के स्थान पर सामाजिक मूल्यों की स्थापना हुई तो हमारा साहित्य समाज को अंगीकार कर सामान्य से सामान्य पात्रों को अभिव्यक्ति का आधार बनाया। होरी, गोबर, रमानाथ, धनिया, झुनिया जैसे पात्रों का जन्म हुआ जिनके व्यक्तित्व में अपने 'स्व' को प्रतिरूपित देखकर सामान्य मानवता हर्ष और विषाद से झूम उठी। यद्यपि इस सन्दर्भ में साहित्य का अर्थ उपयोगितावाद के निकट पहुंच जाता है, परन्तु यह उपयोगितावाद प्रचारात्मक साहित्य के उपयोगितावाद से भिन्न होगा। भारतीय सन्दर्भ में साहित्य की भावभूमि लोकमंगलकारी रही है। तुलसीदास का 'मानस' तुलसी के लिए स्वान्तः सुखाय होकर भी लोक के लिए मंगलकारी है। इससे दीर्घकाल तक जर्जरित मानवता को आस्था मिलती रही है। उपन्यासकारों ने इस सत्य को प्रारम्भ से ही स्वीकार किया है। बंकिम, शरत, रवीन्द्र और प्रेमचन्द के उपन्यासों की महत्ता का कारण मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा है। यद्यपि आज के सन्दर्भ में ये मूल्य परिवर्तित हो गये हैं, पर उनकी उपयोगिता आज भी किसी प्रकार कम नहीं है। इसी कारण आधुनिक उपन्यासकारों ने इसे अपनी सर्जनात्मक प्रक्रिया का अंग स्वीकार किया है।

इसी समय चाय आ गई। नागर जी ने हमें चाय पीने का संकेत किया और हम चाय की प्यालियों की ओर लपक पड़े। कुछ क्षण तक वातावरण शान्त रहा। मेरी निगाह बार-बार उनके अध्ययन कक्ष में चारों ओर घूम रही थी जिसमें पुरातत्व की सामग्री के साथ विविध प्रकार की तस्वीरें लगी थीं। मेरी जिज्ञासा का अनुमान करके नागर जी ने पुरातत्व की उपलब्ध सामग्री का विस्तृत विवरण दिया। इसी सन्दर्भ में उन्होंने बताया कि उन्हें साहित्य के अतिरिक्त और कहीं लगाव है तो वह इतिहास या पुरातत्व है। चाय की चुस्कियों के साथ होने वाली वार्ताक्रम को आगे बढ़ाते हुए जब मैं उनसे यह जानना चाहा कि आप ने कथा साहित्य को ही अभिव्यक्ति का साधन क्यों बनाया ? तो वे चौंक गये। उन्होंने कहा कि यह प्रश्न हमारे लिए भी उतना ही कठिन है

जितना कि आप के लिए। यदि मैं कवि अथवा आलोचक बनता तो बात कुछ समझ में आती क्योंकि मेरे बचपन का परिवेश बहुत अंशों में इसके अनुकूल था, पर बना कथाकार। यों तो इस सन्दर्भ मे कुछ सोचता ही नहीं, पर जब सोचता हूं तो स्पष्ट कारण भी नहीं सूझता। सम्भव है, कथा साहित्य की विशेषताओं ने ही मुझे कथाकार बना दिया हो। जीवन को जितनी गहराई से कथा साहित्य में उभारा जा सकता है उतना किसी अन्य विधा में नहीं। इसके अतिरिक्त इस विषय में कुछ और कह नहीं सकता।

मैंने कहा कि पण्डित जी आप पर आरोप है कि आपने मध्ययुगीन रासोन्मुखी लखनऊ का जितना सुन्दर चित्रण किया है उतना अन्य वातावरण का नहीं। यही कारण है कि 'मानस का हंस' में काशी का वातावरण पूरे परिवेश के साथ नहीं उभर पाया है? तो उन्होंने कहा, "सम्भवतः आपका संकेत 'शतरंज के मोहरे' की ओर है। वैसे 'बूंद और समुद्र' और 'अमृत और विष' में लखनऊ का वातावरण 'शतरंज के मोहरे' से किसी प्रकार न्यून नहीं है। कुछ अंशों में इनमें लखनऊ का वातावरण विशेष सजीव हुआ है। फिर भी यदि पाठकों को शिकायत है तो उसके लिए मैं दोषी नहीं हूं, समय का दोष है जिसकी घटनाओं और परिस्थितियों को उपन्यास का रूप दिया गया है। फिर वातावरण और देशकाल का तो महत्व है। जैसा कि आप जानते हैं कि 'शतरंज के मोहरे' का काल नवाबों का काल है जिनकी सम्पन्नता और विलासिता की कहानियां भारत क्या, विदेशों तक फैली हुई हैं। नवाबों और उनके नगर के चित्रण में वातावरण का विशेष रूप प्रतिरूपित हो तो इसे आश्चर्य नहीं मानना चाहिए। जहां तक 'मानस का हंस' का प्रश्न है, वहां मेरा उद्देश्य तुलसी का चरित्र निरूपित करना रहा है। इस कारण उसमें काशी का वातावरण 'शतरंज के मोहरे', 'बूंद और समुद्र' और 'अमृत और विष' के लखनऊ की तरह मुखरित नहीं हो पाया है अथवा कुछ कमजोर प्रतीत होता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। जब कथाकार उपन्यास के पूरे स्वरूप पर ध्यान न देकर उसके अंग विशेष पर ध्यान देने लगता है तो उससे अन्य अंगों का प्रभावित होना स्वाभाविक है। 'मानस का हंस' के साथ यही हुआ है।

इसी बीच नागर जी का पौत्र प्रचेता कूदता हुआ आकर उनकी गोद में बैठ गया। जब मीना ने उसे छेड़ने का प्रयास किया तो वह

तुनक गया। उसकी तुनकन से हमारी बौद्धिक परिचर्चा को विराम मिला। नागर जी का मन उसके बालरूप पर मुग्ध हो गया। वे भी उसे छेड़ने लगे और बाल संसार में खो गये। इसी क्रम में उन्होंने बताया कि उन्हें बच्चों के साथ खेलने में विशेष आनन्द मिलता है और उन्हीं से प्रेरणा लेकर उन्होंने बाल उपन्यास भी लिखे हैं। कुछ क्षण तक बालपुराण ही प्रचेता के बहाने चलता रहा। हम चिंतन की दुनिया से भावलोक में चले गये। तभी टेलीफोन की घण्टी घनघना उठी। नागर जी ने टेलीफोन का चोंगा उठा लिया और बात करने लगे। बाद में उन्होंने बताया कि भगवती बाबू का टेलीफोन था। इस समय कुछ अस्वस्थ हैं। नागर जी भगवती बाबू का बड़ा सम्मान करते हैं और भगवती बाबू अपनी ज्येष्ठता का पूरा लाभ उठाते हैं। उनके इसी अधिकार से हिन्दी जगत् को 'ये कोठेवालियां' जैसी रचना मिल सकी।

समय मन की गति की तरह भाग रहा था और हमें वाराणसी लौटना था, परन्तु बात का जो क्रम आरम्भ हुआ था वह अभी तक अपूर्ण था। उसे पूर्ण किये बिना मैं जाने की स्थिति में नहीं था। मेरी व्यथा का भार बढ़ रहा था। जब नागर जी की दृष्टि हमारी ओर आकृष्ट हुई तो उनसे मेरा भेद छिप न सका। उन्होंने प्रश्न-वार्ता को आगे बढ़ाने का आदेश दिया। मैंने उनसे पूछा कि आप कथावस्तु और चरित्रों का चुनाव किस प्रकार और कहां से करते हैं? उन्होंने कहा कि दैनिक जीवन में घटने वाली घटनाओं और मिलने-जुलने वाले व्यक्तियों से। इस विषय में 'अमृत और विष' तथा अन्य उपन्यासों की भूमिकाओं में कुछ सामग्री दी गयी है, परन्तु अब मेरी मान्यताएं बदल चुकी हैं। हमारे दैनिक जीवन में अनेक छोटी-बड़ी घटनाएं घटती रहती हैं और काल-प्रवाह के साथ हम उन्हें यथास्थान छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं फिर भी वे अपनी प्रभावात्मकता को अक्षुण्य बनाये रहती हैं। अन्तर्मन में छिपकर उचित परिवेश का इन्तजार करती हैं और ठीक समय पर प्रकट होकर अपनी प्रभावात्मक शक्ति का विज्ञापन करती हैं। ऐसी ही घटनाओं से मेरे उपन्यासों का जन्म हुआ है। उदाहरण के लिए 'महाकाल' (अब इसका नाम 'भूख' हो गया है) को लीजिए। बंगाल के महाकाल को, मैंने अपनी आंखों से देखा है। उन दिनों सियालदह रेलवे स्टेशन भुखमरों से भरा पड़ा था। जब कभी उन

भुखमरों का स्मरण करता हूं तो आत्मा कराह उठती है। दृश्य इतना वीभत्स था कि घर आने पर भोजन करने की इच्छा नहीं होती थी। मुझे अन्न से घृणा हो गयी थी, परन्तु समय के साथ दृश्य की प्रभावात्मकता क्षीण होने लगी और अवसर पाकर 'महाकाल' के रूप में फूट पड़ी। 'अमृत और विष' की स्थिति भी यही है। रमेश और उसकी मित्र मंडली जिस प्रकार लखनऊ के बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों का दौरा करती है अथवा बाढ़पीड़ितों की रक्षा करती है, वह काल्पनिक नहीं है। उसका आधार यथार्थ है। १९५६ में लखनऊ में जो भयंकर बाढ़ आयी थी उसमें हमारे नौजवानों ने जो जौहर दिखाये थे, उसे भुलाया नहीं जा सकता। लड़के जान हथेली पर लेकर हमारे घर के पीछे वाले नाले से नाव ले गये थे। इस घटना को कथावस्तु के रूप में स्वीकार कर मैंने इन पात्रों को रूपायित किया है। वैसे सामान्य जीवन में अनेक पात्र ऐसे मिलते हैं जिनका प्रसंग और व्यक्तित्व अविस्मरणीय होता है। ऐसे ही पात्रों के व्यक्तित्व से मुझे चरित्र-सृष्टि में सहायता मिलती है। चाहे महिपाल हो अथवा सेठ बांकेमल, बाबा रामजी हों अथवा सज्जन, ताई हो अथवा नन्दो सभी पात्रों का आधार यथार्थ है। सभी के प्रतिरूप जीवन में मिल सकते हैं।

पारिवारिक चर्चा के ही प्रसंग में नागर जी ने बता दिया था कि उनके पूर्वजों को नागरों की मूलभूमि छोड़े हुए करीब दो सौ वर्ष बीत गये हैं, फिर भी उनकी पारिवारिक भाषा गुजराती ही है। अपने परिवार में वे गुजराती ही बोलते हैं। उन्हें गुजराती साहित्य का भी अच्छा ज्ञान है। फिर भी उनकी साहित्यिक भाषा हिन्दी है। ऐसा क्यों है ? का भाव मेरे मस्तिष्क में बार-बार उभर रहा था। प्रश्न इसका उत्तर चाहता था और संकोच ऐसा न करने का आग्रह कर रहा था। जब मैंने अपने इन्हीं भावों को प्रश्न के रूप में प्रकट किया तो उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "गुजराती मेरी एक मातृ भाषा अवश्य है, पर दूसरी मां हिन्दी भी है। सच पूछिये तो मेरा पालन-पोषण मेरी इस दूसरी मां ने ही किया है। मेरी चिंतन प्रक्रिया केवल हिन्दी में ही होती है। इसलिए किसी भी दूसरी भाषा को साहित्य रचना का माध्यम बना ही नहीं सकता था। हां, घर में गुजराती बोल जरूर लेता हूं। वैसे मैं ही ऐसा अकेला साहित्यकार नहीं हूं। सुमित्रानन्दन पंत की मातृभाषा कुमाऊंनी है और कवि हिन्दी के हैं। निराला जी ठेठ

बैंसवाड़ी बोलते थे मगर हिन्दी में ही लिखना उनकी मजबूरी थी। पराड़कर जी मराठी होते हुए भी हिन्दी के स्वनामधन्य सम्पादकाचार्य थे। फिर आप की भी तो मातृभाषा भोजपुरी है और लिखते हैं खड़ी बोली में। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। यदि कोई मुझे अहिन्दी भाषा-भाषी हिन्दी लेखक मानकर पुरस्कृत करना चाहे तो वह पुरस्कार मैं कदापि स्वीकार नहीं करूंगा क्योंकि मैं अपने आप को अहिन्दी भाषी नहीं मानता।"

प्राश्निक मुद्रा में जब मैंने उनसे कहा कि पण्डित जी! यदि मैं भूलता नहीं हूं तो आप भी 'मेरी प्रिय कहानियां' के दौर से गुजर चुके हैं तो क्या आप अपने उपन्यासों में से भी किसी को श्रेष्ठ मानते हैं? नागर जी ने बहुत ही सहज ढंग से कहा, "रचनाओं का प्रिय लगना और बात है और श्रेष्ठ बताना दूसरी। जहां तक आपका प्रश्न है उसके सन्दर्भ में यही कह सकता हूं कोई नहीं और सभी। यदि श्रेष्ठ न होते तो उनकी रचना ही क्यों करता? जब तक रचना का क्रम चलता रहता है तब तक मैं उस कृति को श्रेष्ठ मानता हूं और जब प्रकाशित हो जाती है तब नहीं। उस समय उसके मूल्यांकन का अधिकार पाठकों का होता है। वह जिसे पसन्द करे, वह श्रेष्ठ है। यदि अपनी ही रचना के विषय में आप से पूछूं तो क्या आपका उत्तर ठीक होगा। सम्भवतः नहीं। यह पाठकों की रूचि पर निर्भर है।"

हमारी गाड़ी का समय हो गया था। हम चलने के लिए उद्यत हो गये। नागर जी भी हमारे साथ ही कुर्सी से उठ खड़े हुए। मैंने उन्हें ऐसा करने से रोकने का प्रयास किया, पर व्यर्थ रहा। उन्होंने कहा, "आप वाराणसी से आ सकते हैं और हम दरवाजे तक नहीं चल सकते।" मुझे उनकी महानता के सामने नत होना पड़ा। वे हमारे साथ-साथ अपने बड़े आंगन को पार करते हुए दरवाजे की ओर बढ़ रहे थे। तभी मीना ने उनसे प्रश्न किया, "इन दिनों आप कौन-सी रचना में व्यस्त हैं?" चलते हुए ही उन्होंने बताया कि कुछ समय पूर्व महावीर पर लिख रहा था, परन्तु इस समय मैंने उसे स्थगित कर दिया है। यद्यपि इस विषय पर लिखने का मेरा कोई इरादा नहीं था, परन्तु लक्ष्मीचन्द्र जैन और अक्षय कुमार जैन के बार-बार के आग्रह को टाल न सका। इसके तीन अध्याय पूरे हो गये हैं। मानसिक अशान्ति के कारण इन दिनों रचना कार्य से अलग हूं। इधर कुछ दिनों से मेरा

ध्यान मेहतरों की ओर केंद्रित है। इन पर कुछ लिखना चाहता हूं। इस जाति की अपनी संस्कृति है। आदि कवि के जीवन का बहुत बड़ा भाग इनके बीच व्यतीत हुआ है। संगीत में भी इनके नाम से 'डुम्बमत' है। मैं बार-बार सोचता हूं कि इनका इतना पतन क्यों और कैसे हुआ? इसके उत्तर के लिए अवसर पाकर कभी इनका इण्टरव्यू लेता हूं तो कभी पुराणों का अध्ययन करता हूं। इसी में समय बीत रहा है। सम्भवतः मेरी आगामी रचना इसी विषय पर हो और नाम हो 'नाच्यो बहुत गोपाल'।

हम सभी दरवाजे पर पहुंच आये थे। प्रणाम कर जब हम बाहर निकले तो मन में गहरा उल्लास था। इस प्रथम साक्षात्कार में नागर जी के व्यक्तित्व का जो प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा उसका प्रभाव आज भी शेष है। उनसे जब भी मिला हूं, उनके व्यवहार में नवीनता ही मिली है। गेहुंआ रंग, चमकता ललाट, ऐनक से झांकती हुई तीक्ष्ण किन्तु मर्मभेदी आंखें, अधरों पर इठलाती हुई पान की लाली से अलंकृत उनका लखनवी ढंग अजनबी को भी आकर्षित कर सकता है। फिर जो उनके अपने हैं अथवा जिन्हें उनके साथ रहने का अवसर मिला है, उनके लिए तो उनके व्यक्तित्व का कोई भी पक्ष अभेद्य नहीं है। उनका उन्मुक्त सरल स्वभाव ही उनके अन्तर्मन को वाणी दे देता है और दर्शक को लगता है कि आदमी भला और शरीफ है।

पण्डितराज जगन्नाथ का आत्मचिंतन

अब लोग मुझे आदर के साथ 'पण्डितराज जगन्नाथ' नाम से पुकारते हैं। एक समय वह भी था जब मैं बनारस के पण्डितों की आंख की किरकिरी था। उनसे संतापित होकर मुझे मथुरा में शरण लेनी पड़ी थी। लेकिन आज लोग मेरे नाम की सीढ़ियों से विश्रुत होना चाह रहे हैं, तभी तो मेरे मित्र हाड़ाराव राजा छत्रसाल के राजगुरु व्यास माणिक राम जी के वंशज डा० भोला शंकर व्यास ने मेरे कल्पित व्यक्तित्व को अपने गल्प का आधार बनाया है और उसे विश्वसनीय बनाने के लिए मेरी आत्मकथा का भावानुवाद कह दिया है। फिर यह दावा पेश किया है कि उसने बूंद के बहाने समुद्र की कहानी कही है। भला, मुझे क्या पड़ी थी आत्मकथा लिखने की। लिखना तो दूर, इस दिशा में सोचना भी मेरे लिए असंभव था। उस समय तक कृतिकार बड़े ही संकोच के साथ अपनी कृतियों में, अपने विषय में कुछ लिखा करते थे। लेकिन हां, मैंने इसके विपरीत निःसंकोच भाव से अपने विषय में लिखा है। मुझे भय था कहीं भविष्य में अप्पय दीक्षित, भट्टोजि दीक्षित और नीलकण्ठ शुक्ल के कुप्रचारों और आक्षेपों से मेरा जीवन-वृत्त किंवदन्तियों के सैवालजाल में न फंस जाय। जिसका मुझे डर था, बाद में वही हुआ।

मेरा जन्म आज से साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व बनारस के एक तैलंग ब्राह्मण परिवार में हुआ था। मेरे पिता श्री पेरूभट्ट काव्य, दर्शन और व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित थे। इकलौती संतान होने के कारण मुझे उनसे भरपूर स्नेह मिला और मैं उदण्ड प्रकृति का बालक बन गया, फिर भी उनकी असीम अनुकम्पा से मेरे ऊपर वागेश्वरी की कृपा हुई, और मुझ जैसे पाषाण से भी अमृत का स्राव होने लगा। किशोरवय के

उत्तरार्द्ध में ही मैंने शास्त्रार्थ में भट्टोजि दीक्षित और उनके शिष्य नील-कण्ठ शुक्ल को पराजित करके बनारस के पण्डितों में चर्चा का विषय बन गया। मेरी इस विजय ने तो मुझे अहंकारी बना दिया। मैं चाहने लगा कि सभी मेरी विद्वता और कविता-कामिनी की सराहना करें, पर जब देखा, दूसरे ऐसा नहीं कर रहे हैं तो स्वयं अपनी प्रशंसा करने लगा —"आमूलाद्रत्नसानोः, वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्योमदन्यः।"

लेकिन 'समुद्रसंगम' के गल्पकार ने न केवल मेरे जीवन के इन संदर्भों को छोड़ दिया है अपितु मेरे उस पाण्डित्य को भी प्रस्फुटित होने का अवसर नहीं दिया है जिसके कारण बादशाह सलामत शाहजहां ने मुझे 'पण्डितराय' की उपाधि से अलंकृत किया था और बनारस के पण्डितों में वैमनस्य-वल्लरी लहराने लगी थी। और तो और मेरे समकालीन राजा जसवन्त सिंह, मतिराम, चिन्तामणि त्रिपाठी, कुलपति मिश्र, नारायण भट्ट, आदि भाषा के कवियों को जिनमें से अधिकांश के नामों से मैं परिचित भी नहीं था, मेरे शिष्य के रूप में उपस्थित कर दिया है। यही नहीं उसने मेरे जीवन के उत्तरार्द्ध में घटने वाली घट-नाओं और उनके कारण निर्मित मेरी मानसिकता को भी चित्रित नहीं किया है जिसके कारण मुझे सत्ता और समाज दोनों का कोपभाजन बनना पड़ा था। संभव है गल्पकार को मेरी अधूरी कहानी कहने की प्रेरणा 'रसगंगा' से मिली हो। मेरी 'रसगंगा' भी तो अधूरी है। उसे पूरा न कर पाने का कारण तो मेरा अपना प्रियावियोग रहा। भला, मैं इसे कैसे पूरा कर सकता था? जिसकी श्रृंगार चेष्टाओं से मेरे हृदय में काव्यानुभूति का जन्म होता था जब वही प्राणेश्वरी कामेश्वरी नहीं रही तो कविता-कामिनी कैसे जन्म ले सकती थी?

काव्यात्मना मनसि पर्यणमन् पुरा मे
पीयूषसारसरसास्तव ये विलासाः।
तानन्तरेण रमणीरमणीयशीले।
चेतोहरा सुकविता भविता कथं नः॥

पिताश्री के बाद मेरे व्यक्तित्व के निर्माण में दूसरा महत्वपूर्ण योग-दान गुरूदेव कवीन्द्राचार्य सरस्वती का रहा। मातृ-पितृ-शोक के बाद

यदि उन्होंने मेरे जीवन की पतवार को न संभाल लिया होता तो न जाने किस तट पर लगता। उन्होंने न केवल मुझे असीम स्नेह दिया; मेरा संस्कार भी किया। उन्होंने ही मुझे यवनी भाषा सीखने का परामर्श दिया और उन्हीं के कारण मेरे मन में इस्लाम के प्रति पुनीत भावना का संचार हुआ। उन्होंने समझाते हुए कहा था, "देखो जगन्नाथ! कोई भी भाषा या शास्त्र संकीर्ण नहीं होता। यह मनुष्य की हृदय-भूमि ही है जहां सारी संकीर्ण सीमाओं ने घर किया हुआ है। हमारे वेदों की भांति कुरान भी अपौरूषेय है। दोनों दिव्य अनुभूति या इस्लाम की प्रसूति हैं और दिव्य अनुभूति क्षुद्र नहीं हो सकती। इसके प्रत्यक्षीकरण के बाद मानव की हृदय-भूमि की संकीर्ण सीमाएं टूट जाती हैं।"

गुरूदेव का यह कोरा उपदेश नहीं था। उन्होंने इसे अपने जीवन में उतार लिया था। वे हिन्दू संन्यासी होने के बाद भी साम्प्रदायिक भावना से शून्य थे। जाति-पांति, छुआ-छूत की भावना से ऊपर उठकर उन्होंने मानवता की सेवा को ही अपने जीवन का उद्देश्य बनाया था। उन्होंने बड़ी ही सूझबूझ से हिन्दू जनता को तीर्थयात्रा रूपी कर ग्राह से मुक्त कराया था। उन्हीं के अनुकरण पर तो मैंने बाद में औरंगजेब के अत्याचारों के विरुद्ध मथुरा के किसानों को आन्दोलन के लिए उकसाया था जिसके कारण मुझे उसकी कुदृष्टि का सामना करना पड़ा था। उसी की झांकी तो मैंने अधोलिखित पंक्तियों में दिया है—

अपि वहलदहनजालं मूर्ध्नि रिपुर्मे निरन्तरं धमतु।
पातयतु वाऽसिधारामहमणुमात्रं न किंचिदपि भाषे॥

नववय में ही मुझे दिल्लीवल्लभ का वरदहस्त मिल गया था। इसके लिए मुझे क्या-क्या नहीं करना पड़ा था। न जाने कितनी रातें बेचैनी में व्यतीत हुई। बादशाह का सानिध्य प्राप्त करने के लिए ही तो मैंने राय मुकुन्द दास के कहने पर बादशाह सलामत के श्वसुर नवाब आसफ खां पर 'आसफ-विलास चम्पू' लिखा था, फिर भी मेरा यह कार्य केवल चाटुकारिता का कार्य नहीं था। नवाब साहब का सतरंगी व्यक्तित्व इतना आकर्षक था कि उन पर एक क्या, ऐसे अनेक चम्पू लिखे जा सकते थे। उस समय में इतना अहंकार शून्य दूसरा व्यक्ति मुझे देखने

को नहीं मिला। खाने-खिलाने के इतने शौकीन कि दस्तारख्वान पर जगह नहीं रह जाती। उनसे मुझे जो स्नेह मिला उसका वर्णन शब्दों से नहीं किया जा सकता। उन्हीं के कारण मुझे पहले बादशाह द्वारा 'कविराय' फिर बाद में 'पण्डितराय' की उपाधि मिली थी। उनके सहयोग से एक बार जो मुगल दरबार में प्रवेश किया तो फिर अपनी मेधा और निष्ठा से बादशाह का कृपापात्र बन ही गया। उनकी प्रशंसा में अधोलिखित श्लोक को सुनाया तो बादशाह सलामत अपनी खुशी का इजहार किये बिना न रह सके।

समुत्पत्तिः स्वच्छे सरसि हरिहस्ते निवसतिः
निवासः पद्मायाः सुरहृदयहारी परिमलः।
गुणैरेतैरन्यैरपि च ललितस्याम्बुज ! तव
द्विजोत्तंसे हंसे यदि रतिरतीवोन्नतिरियम्॥

'ऐ फूलों के सिरताज कमल, निर्मल पानी के तालाब जैसे बेदाग़ ख़ानदान में तुम जनमे हो और सबके पालने वाले भगवान् विष्णु के हाथों की शोभा बने हुए हो, तुम आज तमाम धन-दौलत की देवी भगवती लक्ष्मी के निवास हो और तुम्हारी अपनी सुगन्ध इतनी दिलकश है कि फ़िरिश्ते भी उस पर रीझे रहते हैं। और भी कितनी ही खुसूसियतों की खूबसूरती लिये होने पर भी तुम अगर एक अच्छी नस्ल के पंछियों—जैसे ब्राह्मण कुल में जनमे इस हंस में दिलचस्पी दिखा रहे हो तो यह सचमुच तुम्हारा ही बड़प्पन है।'

पहले तो मैं आगरा के हिन्दू सामन्तों के लड़कों का शिक्षक बना, फिर बाद में बड़े शाहजादा दाराशुकोह का शिक्षक बन गया। उन्हें 'नैषधीय चरितम्' पढ़ाते समय बताया था कि कविता भोगे हुए अथवा चाहे गये जीवन की अभिव्यक्ति है। कविता की सृष्टि जब रमणीयार्थक शब्दों से होती है तभी व्यंजना-शक्ति प्रभावशाली होती है और उससे रस की सृष्टि होती है। पाण्डित्य निरूपण के लिए निर्मित कविता महान् नहीं होती। 'नैषध' में श्री हर्ष की पदरचना रमणीय नहीं बन पायी है। उनका ध्यान भाषा की सुन्दरता और सुष्ठुता से अधिक पाण्डित्य प्रदर्शन पर रहा है। इस कारण उनका 'नैषध' दोषों से भरा पड़ा है। तभी तो उनके मामा मम्मटाचार्य ने कहा था, "हर्ष ! तुम्हारा यह काव्य यदि

पहले मिल जाता तो मेरा बड़ा उपकार होता । प्रत्येक काव्य दोष का उदाहरण ढूढ़ने के लिए जो परिश्रम करना पड़ा मुझे, उसमें मैं बच जाता ।"

शिक्षण कार्य और दरबारी व्यस्तताओं के बाद भी मेरा स्वाध्याय निरन्तर चलता रहा। मेरी मान्यता रही है कि वह अध्यापक ही क्या जो आजीवन विद्यार्थी न बना रहे। इन्हीं भावनाओं से पूरित होकर मैंने पहले अरबी और फारसी सीखी, फिर बाद में कुरान और उसका व्याख्या ग्रंथ 'हदीश' का अध्ययन किया। मेरे स्वाध्याय और धर्मनिरपेक्ष-भाव से शाहजादा दाराशुकोह बहुत प्रभावित हुए। बाद में तो वे मेरे मित्र जैसे हो गये थे। उन्हीं के माध्यम से बड़ी शाहज़ादी जहांआरा से मुझे बड़ी बहन का स्नेह मिला और उन्हीं के कारण मुझे बादशाह सलामत के साथ कश्मीर यात्रा का सौभाग्य-सुख मिला था। कविता और कुंकुमश्री की जन्मभूमि को देखकर मेरी आंखों में तरावट आ गई और उसमें कल्हण, विल्हण और रत्नाकर जैसे कवियों, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त और मम्मटाचार्य जैसे आलंकारिकों और वामन, कैयट तथा जैयट जैसे वैयाकरणों के चित्र तैरने लगे।

कश्मीर की यह यात्रा मेरे वैचारिक और व्यावहारिक जगत् के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुई। इसी यात्रा में मेरी भेंट प्रसिद्ध सूफी संत शाहमुल्ला से हुई थी। उस समय मैं शाहजादा दाराशुकोह के साथ था। उन्हें जब मालूम हुआ कि शाहज़ादा मुझसे ही इस मुल्क की ज़बान सीख रहे हैं तो उन्होंने कहा, "तुम दोनों को मिलकर बहुत बड़ा काम करना है पण्डित ! तुम चाहो तो यहां की ज़मीन में जो एक गहरी खाई पड़ गई है, उसे पाट सकते हो। मगर याद रखना, यह काम सरल नहीं है। तुम्हें जिन्दगी भर बढ़ते रहना होगा, भले ही परेशानियों के पहाड़ तोड़ते हाथ लहू-लुहान हो जाये और जंगल-जंगल भटकते पैरों में फफोले पड़ जायें। मेरे बच्चों, क़दम-क़दम पर तुम्हें शैतान ललचाता या धमकाता मिलेगा। तुम्हें रुकना नहीं है, कामयाबी हासिल ही करनी है।"

लेकिन मेरा धर्म शाहजादे के धर्म से भिन्न है। मैं हिन्दू ब्राह्मण हूं और जीवन भर यही बना रहना चाहूंगा। मेरी बात पूरी भी नहीं हो पायी कि उन्होंने कहा, "कौन तुम्हारे धर्म में खलल डालने जा रहा है, पण्डित ! हमें तो फ़ख्र है कि तुम ता-जिन्दगी अपने मजहबी सुलूक पर कायम रहना चाहते हो। मेरे लिए धरम और मजहब से बढ़कर चीज़

इनसान है। इनसान धरम के लिए नहीं, धरम ही इनसान के लिए है। इस सचाई को पहचानो। धरम की नजर से हम-तुम सब एक हैं। मुसलमान होते हुए भी मैं उतना ही बरहमन हूं जितने तुम।"

मैंने नतसिर होकर मुल्लाशाह के आदेश को स्वीकार कर लिया और लग गया उसे मूर्तिमान करने में। कभी ज्ञान के क्षेत्र में इस्लाम और हिन्दू धर्म के समन्वय की भावभूमि का संधान करता तो कभी छात्रों को उन कलुषित भावनाओं से दूर रहने के लिए आगाह करता जिनके कारण मनुष्य, मनुष्य के निकट आने से कतराता है। सूफी साधना की समरूपता तो मुझे उपनिषदों में देखने को मिल भी गई। सूफी साधना में जिन चार अवस्थाओं का जिक्र हुआ है उसमें आलमे-नासूत को उपनिषदों में जागृत अवस्था कहा गया है जिसका संबंध अन्नमय कोश और प्राणमय कोश से जोड़ा गया है। इसी प्रकार आलमे-माकूत को स्वप्नावस्था, आलमे-जबरूत को सुषुप्ति अवस्था और आलमे-लाहूत को तुरीयावस्था कहा गया है, जहां पहुंचकर जीव को परम आनन्द की प्राप्ति होती है।

अपने वैचारिक दृष्टिकोण के कारण ही मैंने यवनकन्या लवंगी से विवाह किया था जिसके आधार पर बनारस के पण्डितों ने मुझे बार-बार अपमानित किया था। दरअसल वे मेरे पाण्डित्य से आतंकित थे। मेरे विवाह का प्रसंग तो बहाना मात्र था। उनके अहिर्निशि विरोध के बाद भी मेरे विश्वास का सूर्य प्रखर बना रहा। आखिर मेरा दोष ही क्या था ? यही न, कि मैंने हर इनसान को बराबर समझा था। सभी में एक ही सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार किया था। संत मुल्लाशाह तो मेरे इस निर्णय से काफी प्रभावित हुए। उन्होंने ही लाहौर में मेरा विवाह कराया था और आशीर्वाद देते हुए कहा था, "मुझे बहुत खुशी है पण्डित कि आप मजहबी दायरों से ऊपर उठकर इश्के-पाक की दुनिया में आ रहे हैं जिसका चप्पा-चप्पा खुदाये-पाक के अपने नूर से रोशन है।"

इसके बाद तो मेरे जीवन के संघर्ष का इतिहास ही प्रारंभ होता है। हम भारत में ऐसे समाज के निर्माण में जुट गये जहां बादशाह और रिआया, पण्डित और मुल्ला, धर्म और मजहब, शास्त्र और शरीअत का परस्पर भेद-भाव न रहे, व्यक्ति अपना व्यक्तित्व बनाये रखते हुए भी समाज का अंगभूत बन जाये, बूंद समुद्र में और समुद्र बूंद में अंतर्लीनहो जाये, दोनों का अनोखा संगम हो जाये। पर हाय ! मेरा

यह स्वप्न पूरा न हो सका। सत्ता और समाज ने हमें कहीं का नहीं छोड़ा। आज के धर्म निरपेक्ष भारत का सपना संजोये शाहे-बुलन्द इक़बाल सामूगढ़ और दोराई के युद्ध में जूझते हुए नियत के क्रूर हाथों द्वारा क़लम हो गये और मुझे हिन्दू समाज ने आत्महत्या के लिए मजबूर कर दिया। भले ही मेरी आस्था ने ऐसा न करने दिया हो। काश ! मेरे जीवन के उत्तरार्द्ध की कहानी को भी, जिसका अनुमान गल्पकार ने 'न कुर्यास्तत्वं हेलामितरजन साधारणधिया, जगन्नाथस्यायं सुरधुनिसमुद्धार समयः' और 'जनुरस्तु कुले कृषीबलानामपि गोविन्दपदारविन्दभाजाम्' आदि पंक्तियों से लगाया है, 'समुद्र संगम' में स्थान मिला होता।'[1]

1. डॉ० भोलाशंकर व्यास के उपन्यास 'समुद्र संगम' के आधार पर। आकाशवाणी रामपुर से २ जनवरी १९८२ को सायं ७-४५ पर प्रसारित

महेन्द्र नगर की शालती स्मृतियां

कुछ घंटों की नेपाल-यात्रा के बाद जब स्वदेश पहुंचा तो मित्रों ने जानना चाहा कि मैं नेपाल से क्या लाया हूं ? तब मैं सोचने के लिए विवश हो गया कि विदेश-यात्रा की सफलता इस बात पर निर्भर है कि वहां से कुछ लाया जाय। चाहे भौतिक जीवन से संबंधित उपकरण हों अथवा कोई मानसिक चेतना। इन दोनों में मित्रों के प्रश्न का आशय उन भौतिक उपकरणों से है जिनसे आज का जीवन प्रभावित है और जिनकी आज के सभ्य आदमी के लिए आवश्यकता होती है। जहां तक मानसिक चेतना का प्रश्न है, आमतया उस ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता। वैसे ध्यान जाता है यदि यात्रा का क्षेत्र यूरोप अथवा अमेरिका होता है। नेपाल को ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं है कि कोई भारतीय किसी भारतीय अथवा नेपाली से नेपाल के विषय में, उसकी सभ्यता, संस्कृति और उपलब्धियों के विषय में पूछे क्योंकि हम नेपाल के इतने निकट हैं कि हमारे लिए उसका कुछ भी गोपनीय नहीं है। फिर भी इस संदर्भ में प्रश्न पूछा जा सकता है यदि उत्तरदाता में सामर्थ्य हो। सामान्य से वैशिष्ट्य का चुनाव अथवा सामान्य को वैशिष्ट्य बनाने की क्षमता तो सभी में होती नहीं और जिनमें होती है, उनके सामने युग नतमस्तक होता है। दुर्भाग्यवश मेरे में न तो सामान्य से वैशिष्ट्य के चुनाव की शक्ति है और न सामान्य को वैशिष्ट्य बनाकर उपस्थित करने की कला। यदि इस कारण मेरे मित्रों ने भौतिक उपकरणों को लक्ष्य बनाकर प्रश्न किया तो मुझे इस पर कोई आश्चर्य नहीं हुआ। चूंकि इस दिशा में मेरी कोई उपलब्धि नहीं थी इस कारण उनकी दृष्टि में मेरी नेपाल-यात्रा निरर्थक रही।

यद्यपि मैं नेपाल नहीं जाना चाहता था और संभव था जाता भी नहीं यदि साथियों का दबाव नहीं पड़ता। अब कुछ ऐसी मानसिकता बन गई है जिसमें यात्रा से वितृष्णा-सी होती जा रही है। 'गृह कारज नाना जंजाला' में फंसा मन जितना मुक्ति के लिए छटपटाता है, समस्याएं उतनी ही बढ़ती जाती हैं। लेकिन मुझे इस उलझाव का कोई दुःख नहीं है। गृहस्थ जीवन की सार्थकता इसी में निहित है। गृहस्थ जीवन में जो रस है, वह अन्यत्र कहां सम्भव है! यदि आप इसका भावन करना चाहते हैं तो कुछ दिनों के लिए अनिकेतनवासी हो जाइये फिर देखिए गृहस्थ जीवन कितना आकर्षक और उसका आस्वाद कितना मधुर लगता है। यात्रारस, वैराग्यरस और गृहस्थरस के बीच की कड़ी है। यात्रा में घर का स्मरण और वैराग्यरस का पान एक ही साथ होता है। मेरा आस्वादक ऐसे रसों के आस्वादन का आदी हो चुका है, परन्तु अब परिस्थितियों की मार से उसकी कमर टूटती जा रही है। फिर भी उस पर लोभ का मलहम लगाकर सहलाए जा रहा हूं ताकि जब मेरे मन के हनुमान को कोई प्रोत्साहित करे तो वह यात्रासमुद्र के उलंघन के लिए तत्पर हो सके।

इस बार जब भाई गंगासरन और जयप्रकाश गुप्त ने मेरे मन के हनुमान को ललकारा तो मैं उनके उस टूर के साथ हो लिया जो 'राष्ट्रीय सेवा योजना' और एन०सी०सी० की ओर से आयोजित था और जिसका गन्तव्य-स्थल था नेपाल का महेन्द्र नगर और पूर्णागिरि। वैसे मुझे टूर के साथ जाने पर बीच में आने वाली कठिनाइयों का बोध था फिर भी कम से कम दो ऐसे कारण थे जिनके कारण मन के ऊंट को निश्चित करवट की ओर बैठाना पड़ा। दोनों कारणों में पहला कारण रहा भगवती पूर्णागिरि के दर्शन की अभिलाषा और दूसरा—कर्त्तव्य भावना जिसके कारण कभी-कभी अनाहूत समस्याओं से प्रायः उलझ जाया करता हूं और कभी-कभी लांछन का अधिकारी भी बना हूं। फिर भी स्वभाववश कर्त्तव्यरस का पान का लोभ संवरण नहीं कर पाता। इसी क्रम में जब मुझे पता चला कि प्रायः सभी साथियों ने टूर के साथ चलने में असमर्थता व्यक्त कर दी है तो मेरा आत्म मुझे चलने के लिए विवश कर दिया और मैं १६ अप्रैल १९८१ की रात को उन दोनों बसों में से उस बस पर आरूढ़ हो गया जो अध्यापकों, अध्यापक परिवारों, छात्राओं तथा छात्राओं के तथाकथित संरक्षकों के लिए

निश्चित थी। दूसरी बस में केवल छात्रों के बैठने की व्यवस्था थी। अनुशासनात्मक व्यवस्था की दृष्टि से ही ऐसा निर्णय लिया गया था। मेरा भी मन छात्रों के साथ उन्हीं की बस में बैठने का था, पर बैठ न सका। एक तो बस में स्थान कम था, दूसरा साथियों का निर्देश। निर्देशक के निर्देश का पालन न करने का अर्थ होता है अनुशासनहीनता और मुझे किसी भी स्तर पर अनुशासनहीनता पसन्द नहीं है। यद्यपि कुछ लोगों को अपनी इस आदत के कारण बेढंगा आदमी लगता हूं, पर मेरा जिस अनुशासनात्मक व्यवस्था में शासन हुआ है उससे मुझे ढेर सारी उपलब्धियां हुई हैं। वैसे मैं अब धारणा बना चुका हूं कि कठोर अधिकारी कर्मचारियों के लिए श्रेयस्कर होते हैं। यद्यपि उनसे स्वच्छन्दतावादी स्वभाव के कामचोर कर्मचारियों को अधिक कष्ट होता है, पर अन्ततोगत्वा ऐसे अधिकारियों के स्वभाव के कारण कर्मचारियों में जिन आदतों का निर्माण होता है उनसे बाद में उन्हें अधिक सुख भी मिलता है। मुझे अपने जीवन में प्रारंभ से ही ऐसे सुख की तलाश रही है और मुझे इसकी प्राप्ति भी हुई है।

कालेज प्रांगण से बस के छूटने का नियत समय नौ बजे रात था लेकिन बस कतिपय व्यवधानों के कारण रात में ग्यारह बजे छूटी। छात्राओं के तथाकथित संरक्षकों का बेसुरा राग, मित्रों की गप-शप, 'जय माता' का घोष निद्रादेवी को चुनौती देने लगा और यदि यह सब न भी होता तो निद्रा देवी पास नहीं फटक सकती थीं। उसे भगाने के लिए जीर्ण बस से उत्पन्न आवाज जो किसी शैतान के खुर्राटे से कम नहीं थी, पर्याप्त थी।

लगभग डेढ़ घंटे की यात्रा के बाद जब हम रामपुर पहुंचे तो चालकों की चाय की तलब, छूत का रोग बन गई। सभी चाय की दूकानों पर भिनभिनाने लगे। पेय पदार्थों का स्वाद तब और बढ़ जाता है जब समान विचारधारा के व्यक्ति एक साथ उसका आस्वादन करते हैं अन्यथा प्याला रीता पड़ जाता है और स्वाद का पता नहीं चल पाता। मैंने ऐसे बहुत से हतभाग्यों को होटलों और रेस्टूरेण्टों में देखा है जो किसी चीज के लिए बेयरा पर बरस पड़ते हैं जबकि वह चीज उनके सामने टेबुल पर पड़ी होती है। जब मन और मस्तिष्क असंबंधित होते हैं तो यही दशा होती है। लेकिन हम लोग पूरी तन्मयता से चाय की चुस्कियों के आस्वादन में तत्पर थे। भाई रायपुरिया के चुटीले व्यंग्यों

और रात्रिकालीन तन्द्रा से चाय का स्वाद द्विरागमन की बहु जैसा मधुर लग रहा था।

एक घण्टे के अन्तराल के बाद जब दोनों बसें बनवसा के पथ पर दौड़ने लगीं तो यात्रियों की मनोदशा ही बदल गई। अब न तो वह जय-जयकार थी और न बेसुरा अलाप। थकान के चिह्न चेहरे पर उदित होने लगे थे और निद्रादेवी का प्रकोप भी विलासवेग-सा बढ़ने लगा था। झपकियों का क्रम जो शुरू हुआ तो बढ़ता ही गया। अजगर सरीखी सड़क पर भागती हुई बस किन-किन मोड़ों से गुजरी इसे बता पाना कठिन है। यद्यपि मैं नींद के प्रभाव से मुक्त था फिर भी मेरा दिशा ज्ञान रात के अंधेरे में खो चुका था। गांवों, कस्बों और जिला मुख्यालयों को स्पर्श करती हुई बस जब प्रातः पांच बजे खटीमा पहुंची तो सभी लम्बे सफर की यातना से बुरी तरह थक चुके थे। कुछ दैनिक क्रियाओं से मुक्त होना चाहते थे और कुछ हम सरीखे तथाकथित सभ्य समाज के रोजमर्रा के जीवन की पहली आवश्यकता प्रातःकालीन चाय (बेड टी) के लिए लालायित थे। जब बस खटीमा में रुकी तो पुरवैया ने हमारा भीगे नयनों से स्वागत किया। उसके नर्म स्पर्श से सभी का मन पसीज गया। मुझे एक भोजपुरी लोकगीत की कुछ पंक्तियां स्मरण हो आईं। विवाह के बाद गौने की प्रतीक्षा में रत युवती के मन को पुरवैया ने झकझोर दिया। विचारी को पति का स्मरण हो आया, पर हाय! विचारी क्या करे ? पति तो सुदूर प्रान्त में पड़ा हुआ है। मिलन कैसे हो ? जी की जलन कैसे बुझे ? विचारी ने किसी तरह अपने मन को मसोल लिया फिर भी भावी कल्पना ने उसके मन को गुदगुदा ही दिया—

बहे पुरवइया त लगेला ओंहाई।
अस मन करेला ससुर चलि जाईं॥

लेकिन यह कसक तो लोकमन की कसक है। आज का नागरिकमन तो इस प्रकार के कसक से मुक्त है। अब उसके पास न तो प्रतीक्षा के लिए समय है और न पुरवैया के स्पर्श से उत्पन्न होने वाली अनुभूति। लेकिन हम जैसे मध्यवर्गीय चेतना के धुरन्धरों के पास ऐसे मन की कमी नहीं है जब ऐसे मन को खटीमा के अंचल में पुरवैया ने झकझोर दिया

तो वह भले ही किसी रूप-सुन्दरी की प्रतीक्षा का विषय न बना हो, पर उसमें रूप सुन्दरियों के जवानमन की अनुभूतियां झांकने लगीं जिससे चाय का स्वाद और बढ़ गया। गरम-गरम चाय से उठने वाली वाष्प अपरिचिता विरहिणी के निश्वास की तरह मन में समाने लगी। मन लहराकर गुनगुनाने लगा—

गौने जात नई बहू रोवति अति बिलखात।
पिय मिलने की याद में मन ही मन मुसकात ॥



प्रतीक्षित दूसरी बस जो पीछे छूट चुकी थी आई पर रुकी नहीं, आगे बढ़ गई। उसे यह न बताया जा सका कि हमें बनवसा चलना है। हमारी बस जब बनवसा पहुंची तो पता चला कि पहली बस टनकपुर जा चुकी है। अव्यवस्था के इस पहले सूत्र ने केवल सामान्य उलझनों को जन्म दिया। टूर आयोजकों को विश्वास था कि जब दूसरी बस टनकपुर नहीं पहुंचेगी तो वे अवश्य ही बनवसा की ओर मुड़ेंगे। इस अनुमान से आश्वस्त होकर जब सभी शारदा नहर के किनारे शौचादि क्रियाओं के निमित्त निकल पड़े तो हमारे सामने रात्रि-विश्राम की समस्या थी। पूर्व निर्णय के अनुसार हमें बनवसा में ही रात्रि-विश्राम करना था। बनवसा इतनी छोटी जगह कि वहां चिरई के पूत के लिए भी रहने की व्यवस्था नहीं। सिंचाई विभाग का दफ्तर, कालोनी और विभाग द्वारा संचालित माध्यमिक स्कूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं। फिर हाल किसी तरह सिंचाई विभाग के गेस्ट हाऊस और माध्यमिक विद्यालय में रात्रि-विश्राम की व्यवस्था संभव हुई। यद्यपि हमें वहां ठहरने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

बनवसा से हम करीब साढ़े सात बजे महेन्द्र नगर की ओर उन्मुख हुए। महेन्द्र नगर नेपाल के दक्षिण-पश्चिम जिले का एक छोटा-सा कस्बा है जो शारदा नदी परियोजना से करीब आठ किलोमीटर दूर है। वैसे यह परियोजना पूर्णतः भारत सरकार की है किन्तु भारत और नेपाल सरकार के द्विपक्षीय समझौते के अनुसार इसके जल से दोनों देश लाभान्वित होते हैं। यह बात दूसरी है कि नेपाल को भारत के अनुपात

में बहुत कम जल मिलता है।

बनवसा से पूरा टूर कई ग्रुपों में विभक्त हो गया था। मेरे साथ मेरे दो शिष्य—राकेश और आनन्द—थे। मुझे जीवन में पहली बार इतने समय तक किन्हीं दो विद्यार्थियों के साथ रहने का अवसर मिला था। इस कारण मेरी स्थिति इन दोनों शिष्यों के सामने परीक्षार्थी जैसी रही। क्योंकि अभी तक तो अध्यापकों के स्वभाव और विद्यार्थियों के साथ उनके संबंध विषय पर व्याख्यान देता रहा, अब उसके निर्वाह का समय था। थोड़ी सी चूक के कारण हमारे और राजनेताओं का अन्तर समाप्त हो सकता था। इस कारण मैं पूरे समय तक सतर्क रहा। दोनों ने मेरा मूल्यांकन किया अथवा नहीं, यह तो नहीं जानता लेकिन उनके कारण मुझे जो सुख-सुविधा मिली उसे भुलाया नहीं जा सकता। पहले तो मुझे उनके प्रश्नों का उत्तर देना पड़ा जिसका सम्बन्ध मुख्यतया शारदा परियोजना और नेपाल सरकार से था। बाद में अनौपचारिक वार्ताएं होती रहीं।

बनवसा से लगभग एक किलोमीटर तक शारदा नहर के दाहिने किनारे-किनारे चलने के बाद हम नहर के पुल को पार कर शारदा नदी के बांध पर पहुंचे। बांध के ऊपर से पैदल आवागमन की सुविधा है और नीचे आवश्यकतानुसार जल अवरोध की व्यवस्था। नदी के बांध को पार करने के बाद भारतीय सीमा समाप्त हो जाती है और वहीं पर भारतीय चेकपोस्ट है। मानवीय कृत्य और प्राकृतिक सौन्दर्य को निहारते हुए जब हम नेपाल-क्षेत्र में पहुंचे तो थक चुके थे। हम सभी ग्रुपों से आगे थे इस कारण हमारे सामने दो ही रास्ता था, या तो हम रुक कर दूसरों की प्रतीक्षा करें अथवा अनजान और अनदेखे पथ पर आगे बढ़े। यद्यपि आनन्द और राकेश दोनों प्रतीक्षा करना चाहते थे, परन्तु मैं इसके पक्ष में नहीं था। मैं इन्तजार में विश्वास नहीं रखता। यह कायरों का हथियार है। हो सकता है अतीत में कभी इन्तजार सुखदायक रहा हो, पर आज से क्षणवादी मनुष्य के पास इतना समय कहां कि वह प्रतीक्षा करे। उसे तो वणिक कर्म ही प्रिय है। फिर इसकी क्या गारंटी की प्रतीक्षित सफल ही होगा। तो अनिश्चित के लिए निश्चित का परित्याग कैसे किया जाए! वैसे भी समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। इन तमाम अवधारणाओं के बावजूद मैं अपना निर्णय अपने विद्यार्थियों पर लादना नहीं चाहता था। दो के विरोध में मेरे एक मत की क्या वकत।

लेकिन जब शिष्यों को समझाया कि औरों के आ जाने से रिक्शावालों का चार्ज बढ़ जाएगा तो वे इस सत्य से उदासीन न रह सके और रिक्शा पर बैठ गए।

भारतीय चेकपोस्ट और नेपाली चेकपोस्ट के बीच दो रास्ते हैं। मुख्य पथ तो सुविधाजनक है परन्तु लम्बा है। इस कारण पैदल यात्री और रिक्शा-चालक शार्टकट से ही चलना पसन्द करते हैं जो इतना उबड़-खाबड़ है कि रिक्शा से यात्रा करना यात्री और चालक दोनों के लिए कष्टकारक है। वैसे भी रिक्शा पर बैठने को मेरा जी नहीं चाहता। मेरी अन्तरात्मा इसके लिए तैयार नहीं होती कि अपनी सुविधा के लिए दूसरे को जानवर बनने के लिए मजबूर किया जाय। डाक्टर राममनोहर लोहिया ने तो अपने समय में इसका विरोध भी किया था और सरकारों को सुझाव दिया था कि वे आटो रिक्शा का विकास करके मनुष्य को जानवर बनने से रोकें। लेकिन उनकी बात पर किसी ने कान नहीं दिया। आज जब शोषणमुक्त समाज की बात की जाती है और नये-नये नारों से जनमत को आकर्षित किया जाता है तब भी अपने को मानवता के पहरेदार कहने वाले बुद्धिजीवियों, चिंतकों और राजनीतिज्ञों को यह छोटी सी बात समझ में नहीं आती कि समाज के इन कमजोर व्यक्तियों को यदि जानवर बनने से मुक्त कर दिया जाय तो वे मनपसन्द का दूसरा व्यवसाय चुनकर सम्मान का जीवन यापन कर सकते हैं।

नेपाली चेकपोस्ट पर पहुंचते-पहुंचते साथ के और सदस्य भी आ गये। उनमें से कुछ जिनके रिक्शा की गति तीव्र थी आगे भी निकल गए। हम लोग नेपाली चेकपोस्ट पर स्थित बैंक में भारतीय मुद्रा को नेपाली मुद्रा में परिवर्तित करने के लिए रुक गये। यद्यपि मित्रों ने सलाह दी थी कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। नेपाली बाजारों में भारतीय मुद्रा का प्रचलन है, फिर भी हम विधिसम्मत पथ पर चलना ही श्रेयस्कर समझे और आवश्यकतानुसार मुद्रा परिवर्तित कर लिए फिर महेन्द्र नगर की लगभग ६ किलोमीटर की दूरी तय करने के लिए रिक्शा पर बैठ गये। हमें लग ही नहीं रहा था कि हम किसी दूसरे देश की जमीन पर चल रहे हैं। कहीं कोई परिवर्तन नहीं। एक जैसे सीधे-साधे इंसान। वही गरीबी, वही विश्वास और जीवन तथा जगत् के प्रति वही आस्था। सभी परिचित से लग रहे थे। हां पिछड़ेपन के चिह्न अवश्य लक्षित हो रहे थे। लेकिन राजमार्ग के दोनों ओर फैले हुए

मैदानों के कटे पेड़ों के चिह्न तथा कृषि और छोटे उद्योग धन्धे नेपाली जनता और सरकार के उस संकल्प को वाणी दे रहे थे जिसमें वे नेपाल को आत्मनिर्भर और शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के लिए सचेष्ट हैं।

महेन्द्र नगर पहुंचने के बाद जब हम सिद्धेश्वर महादेव का दर्शन करके बाजार पहुंचे तो बाजार की, विशेषकर विदेशी वस्तुओं की दुकानों की फिजा ही और थी। दल के सदस्य मिठाई की दुकानों पर भिन-भिनाने वाली मक्खियों की तरह भिन-भिना रहे थे और नेपाली दुकानदार वस्तुओं की कीमत डेढ़ा-दूना करके अपनी जेब गरम कर रहे थे। विदेशी वस्तुओं के प्रति दिलचस्पी न होने के कारण यद्यपि मैं इस दिशा में उदासीन था फिर भी उपलब्ध विदेशी सामग्री विशेषकर विलासिता के पंक-पयोधि में डुबाने वाले उपकरणों के निरीक्षण का लोभ संवरण नहीं कर पाया। कुछ उपकरण मुझे आकर्षित भी किये फिर भी उन्हें न तो खरीदा और न साथ के शिष्यों को खरीदने दिया। न खरीदने का कारण उन वस्तुओं का देश में उत्पादन और उन्हें खरीदने के बाद भारतीय चेक पोस्ट पर आने वाली समस्याएं थी। वैसे चेक पोस्ट की समस्या न भी होती तो उनका खरीदना इसलिए भी संभव नहीं था कि अभी अपने देश में विदेशी इलेक्ट्रानिक उपकरणों का मरम्मत कार्य सुविधाजनक नहीं है।

महेन्द्र नगर में मेरे आकर्षण का केन्द्र बिन्दु दल के अन्य सदस्यों की तरह कोका कोला रहा। लम्बे अन्तराल के बाद अपने चिरपरिचित पेय को देखकर मन की गाछें खिल गईं। इच्छा कई बोतलों के उड़ाने की रही लेकिन पेट ने चौथे बोतल पर ही जवाब दे दिया। फिर भी तृष्णा मृगमरीचिका की तरह नचाती रही और पांचवे बोतल के बाद न चाहते हुए भी कोका कोला को अनिश्चित काल के लिए नमस्कार कर लिया।

कोल्हू के बैल की तरह जब इस छोटे से कस्बे में घूमते-घूमते थक गये तो इच्छा बनवसा लौट चलने की हुई। निर्णय लिया गया कि नेपाल के चेकपोस्ट पर चलकर वहां का नजारा देखा जाय कि क्या बीतती है विदेशी वस्तुओं के दीवानों पर? सो हम नेपाल के चेकपोस्ट से होते हुए भारतीय चेकपोस्ट पर पहुंचे। नेपाल के चेकपोस्ट से तो हमें अधिक रस नहीं मिला, पर भारतीय चेकपोस्ट के कर्मचारियों ने हमारा जो मनोरंजन किया उसका कुछ मत पूछिए। उसे बताने और न बताने

दोनों में कष्ट है। बस सांप-छछुन्दर वाली कहावत को स्मरण कर लीजिए। वहां के दक्षिणा-व्यापार को देखकर मन कचोट गया। शिष्यों से कहा, "यदि तुम लोग बैठना चाहते हो तो बैठो, मैं चलता हूं। यहां पर अब मुझसे बैठा नहीं जा रहा है। यह 'चेकपोस्ट' नहीं 'पास पोस्ट' है।" यद्यपि शिष्यों को यहां के कार्य-व्यापार से रस मिल रहा था फिर भी वे संकोचवश मेरे साथ हो लिए। मैं इस विषय से अपना ध्यान हटा कर अन्य विषय पर केन्द्रित करना चाहता था, पर ध्यान हटने को तैयार ही नहीं था। जहाज से उड़े पंछी की तरह पुनः जहाज पर आ जा रहा था। तभी आनन्द ने कहा, "गुरू जी क्यों उदास होते हैं ?" यह संसार है। यहां पर सब कुछ चलता है। कहां-कहां आंसू बहायेंगे ? किस-किस से उदास होंगे ?" मैंने कहा, शायद आनन्द तुम ठीक कह रहे हो। फिर भी मेरा मन शान्त नहीं हो पाया : विचारों की आंधी में उड़ता रहा, उड़ता गया। उसे विराम तब मिला जब उसे मित्रों के प्रश्नों का सामना करना पड़ा।

☐

आज जब नेपाल से दूर अमरोहा में बैठकर मित्रों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में आत्म निरीक्षण करता हूं तो कबीरदास का पद स्मरण हो आता है—

झीनी झीनी बीनी चदरिया
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़े ओढ़ के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया ॥

फिर मेरा आत्म स्वीकार करने को तैयार हो जाता है कि मैं भी नेपाल से खाली हाथ नहीं लौटा हूं। भारतीयता के जिस भाव को लेकर गया था उसे कबीरदास की चदरिया की तरह ज्यों का त्यों वापस लाया हूं। उस न कोई दाग है, न धब्बा और न कोई विकार। देखना है मेरा कबीर कब तक भारतीयता की इस चदरिया को सुरक्षित रखने में सफल होता है।

शत-शत प्रणाम

आज जब राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जन्मशताब्दी वर्ष में उनके विचारों एवं कार्यों का मूल्यांकन करने बैठा हूं तो मेरे मानस-पटल पर पुराकालिक 'राजर्षि' राजा जनक का वह उत्तर अंकित हो जाता है जिसमें उन्होंने ऋषियों के एक प्रतिनिधि मण्डल को बताया था कि जिस प्रकार सिर पर लटक रही नंगी तलवारों से भयभीत होने के कारण आप को भोजन का स्वाद नहीं मिल पाया, उसी तरह ईश्वरानुरक्ति के कारण मुझे राज-सुख का स्वाद नहीं मिल पाता। कहते हैं, इस उत्तर से ऋषियों को अपने कृत्य—राजा जनक को राजर्षि कहे जाने से उत्पन्न द्वेष—पर पश्चाताप हुआ और वे विनत-भाव से उनका चरण-स्पर्श कर लिए। तब मुझे पुरुषोत्तमदास टण्डन, जिन्हें हम श्रद्धावश 'राजर्षि' संबोधन से संबोधित करते हैं, राजा जनक के प्रतिरूप लगते हैं; फिर उनकी महानता, कर्त्तव्यनिष्ठा, त्याग और तपस्या के सामने मेरा सिर नत हो जाता है।

टण्डन जी का प्रातिभ व्यक्तित्व बहु आयामी था। उन्होंने जीवन के जिस क्षेत्र में प्रवेश किया और जिस कार्य को हाथ में लिया, उसमें उन्हें भरपूर सफलता मिली। लेकिन इस सफलता के कारण न तो उनके मन में कोई विकार आया और न उसके बल पर आजकल के तथाकथित राजनेताओं की तरह कोई लाभ कमाने का उपक्रम किया। अपनी उपलब्धियों के बीच वे आजीवन कमल-पत्र बने रहे। उनके व्यक्तित्व में इस विलक्षणता का आगमन उनकी अगाध आस्था और विश्वास के कारण हुआ जिसमें वे भारतीय नैतिक मूल्यों से अनुप्राणित थे। भारतीयता की भावना और घोर नैतिकता के कारण ही वे

आजीवन अपने पद और उपलब्धियों का स्वाद उसी प्रकार नहीं ले पाये, जिस प्रकार पुराकालिक राजर्षि राजसुख का स्वाद नहीं ले पाये थे। अपने नैतिक मूल्यों के प्रति वे इतने समर्पित थे कि उसकी रक्षा के लिए बड़े से बड़े पद और बड़े से बड़े व्यक्ति को ठुकराने में कभी संकोच नहीं किये।

उनके व्यक्तित्व में नैतिकता का यह आग्रह महात्मा गांधी, पण्डित मदनमोहन मालवीय, बालकृष्ण भट्ट जैसे मनीषियों के सानिध्य से आया। इनमें भी सबसे अधिक प्रभाव महात्मा गांधी का पड़ा ; फिर भी वे कभी महात्मा गांधी के अंधभक्त नहीं रहे। उनकी उन बातों और कार्यों का जिसे उन्होंने अनुचित समझा, उसका विरोध किया। वे मानते थे कि अपनी भावनाओं को न व्यक्त करना भी एक प्रकार की हिंसा है। जो व्यक्ति अपनी भावनाओं और विचारों के प्रति न्याय नहीं कर सकता, वह दूसरों की भावनाओं और आकांक्षाओं का सम्मान कैसे कर सकता है ? इस अवधारणा के कारण उन्होंने कभी अपने उभरते विचारों को नहीं दबाया। जब कभी अवसर आया उसे निःसंकोच व्यक्त किया, परन्तु नम्रता के साथ। १९३४ के पटना अधिवेशन में महात्मा गांधी के केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में भाग लेने का प्रस्ताव उन्हें अच्छा नहीं लगा तो उन्होंने उसका विरोध किया। मालवीय जी उसकी संसदीय समिति में थे। वह चाहते थे कि टण्डन जी भी उसके सदस्य रहें, पर टण्डन जी ने सदस्य बनने से इंकार कर दिया। इसी प्रकार हिन्दी के स्वरूप को लेकर उनका महात्मा गांधी से कई बार मतभेद हुआ, लेकिन उसके कारण उनके आपसी संबंधों में किसी प्रकार का दुराव नहीं आया। आत्मीयता पूर्ववत् बनी रही।

टण्डन जी ने सदैव अपने विचारों और नैतिकता को सर्वोपरि रखा। उसके लिए कोई भी समझौता नहीं किया। एक योद्धा की तरह उनके लिए लड़ते रहे। जब उन्होंने देखा कि उनकी हिन्दी नीति के कारण जवाहरलाल नेहरू से (जो उन दिनों भारत के प्रधानमंत्री थे) उनका मतभेद इतना अधिक हो गया है कि उसके कारण जवाहर लाल नेहरू कांग्रेस कार्यकारिणी में शामिल होने से कतराने लगे थे तो उन्होंने स्वयं अपने कांग्रेसाध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया। उनकी दृष्टि में विचारों से पद कभी बड़ा नहीं हो सकता। विचार और पद में से जब कभी चुनाव का प्रश्न आया तो उन्होंने सदा विचार को प्रथम स्थान दिया। उनकी

विचारनिष्ठा ही उन्हें उनके समकालीन राजनेताओं से पृथक करती है।

वैसे तो टण्डन जी ने विविध क्षेत्रों में काम किया लेकिन जिन कार्यों और विचारों के कारण हम उन्हें राजर्षि संबोधन से संबोधित करते हैं अथवा जिसके कारण ऊपर मैंने उन्हें जनक का प्रतिरूप कहा है, उसका आधार उनके सामाजिक कार्य और उनका सार्वजनिक जीवन है। उनका सार्वजनिक जीवन निष्कलुष और निःस्वार्थ रहा। अपने सार्वजनिक जीवन में उन्होंने कठोरतापूर्वक नैतिक मूल्यों का पालन किया और उसके द्वारा सार्वजनिक जीवन का मापदण्ड स्थापित किया। उनके जीवन की सादगी और विशेषताओं से विश्वास नहीं होता कि ऐसा विलक्षण व्यक्ति कभी हमारे बीच रहा होगा। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष होने के बाद भी न तो उनके मन में कभी अधिकार दर्प आया और न उनकी जीवनचर्या प्रभावित हुई। वही कपड़े का जूता, वही हाथ से धुले कुर्ता-धोती और वही वस्त्रों के उपयोग की पुरानी धारणा—फटी धोती से अंगोछा, फिर रूमाल और फिर उसे तकिया में भरकर उससे रूई-सा काम लेने की भावना। उनकी सद-चरित्रता और सदनागरिकता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जब स्वतंत्र भारत के प्रथम दशक में खाद्यान्न की जटिल समस्या मुंह बाये खड़ी थी तो उन दिनों टण्डन जी का परिवार पूरे महीने तक उतने ही अन्न से गुजारा करता था जितना उसे आम नागरिकों की तरह राशन कार्ड द्वारा प्राप्त होता था। इस अन्न के समाप्त होने के बाद उनके परिवार में बाजार में अन्न का एक दाना भी नहीं खरीदा जाता। पूरे परिवार का निर्वाह आलू और फल से होता। इस बीच यदि परिवार में कोई अतिथि भी आ जाता तो उसका स्वागत-सत्कार भी आलू और फल से होता।

टण्डन जी का पूरा जीवन हिन्दी के लिए समर्पित रहा, फिर भी उन्होंने कभी ऐसा दावा नहीं किया कि हिन्दी हमारी है। उन्होंने सदा अपने आप को हिन्दी का माना और उसी भाव से उसकी सेवा में तल्लीन रहे। जब कभी, जहां कहीं भी हिन्दी का प्रश्न आया वे सदा आगे रहे। भारतीय साहित्य के ग्यारहवें अधिवेशन कलकत्ता में जब बंगला के प्रसिद्ध विद्वान् श्री देवी प्रसाद सर्वाधिकारी ने बंगला साहित्य के गुणगान के सन्दर्भ में हिन्दी पर कटाक्ष किया तो उस समय टण्डन जी तिलमिला उठे थे। उसके उत्तर में उन्होंने जो व्याख्यान दिये,

उससे बंगला साहित्य के विद्वान् प्रभावित हुए बिना न रह सके। स्वयं सर्वाधिकारी को भी अपनी भूल पर पश्चाताप हुआ। टण्डन जी ने अपने लम्बे व्याख्यान में प्रतिपादित किया था कि जिस प्रकार असंख्य कांच के चमचमाते टुकड़े हीरे के एक छोटे से टुकड़े का सामना नहीं कर सकते उसी प्रकार ग्रंथों की अधिकता से कोई भी साहित्य वैभव-शाली नहीं हो सकता। हिन्दी का प्राचीन साहित्य इतना संवृद्ध है कि उसकी समता में किसी भाषा के साहित्य को खड़ा नहीं किया जा सकता। अपने व्याख्यान में उन्होंने इस सच्चाई को भी स्वीकार किया कि हिन्दी का आधुनिक साहित्य बंगला साहित्य से प्रभावित है, पर केवल प्रभाव के कारण बंगला साहित्य को हिन्दी साहित्य से श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। और इसे मान भी लिया जाय तो प्रभाव के कारण जो बात हिन्दी साहित्य के लिए कही जा रही है, वही बात बंगला साहित्य के लिए भी कही जा सकती है क्योंकि उसके प्राचीन साहित्य पर हिन्दी के विद्यापति, कबीर, मीरा और अनेक सन्त कवियों का प्रभाव है।

हिन्दी के प्रबल समर्थक होने के बाद भी टण्डन जी अन्य भारतीय भाषाओं के विरोधी नहीं थे और न वे उनका किसी स्तर पर अहित चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि सभी भारतीय भाषाएं विकसित हों, उनमें आदान-प्रदान हो और वे परस्पर सहेली की भावना से रहें। यह तभी संभव है जब हिन्दी को उसका निश्चित स्थान मिल जाय। आज भारतीय भाषाओं में जो टकराहट की स्थिति है, उसके लिए टण्डन जी अंग्रेजी को जिम्मेवार मानते रहे। अंग्रेजी के कारण जहां हिन्दी के विकास की संभावनाएं अवरुद्ध हुई हैं, वहीं अन्य प्रान्तीय भाषाओं के विकास में ठहराव आ गया है। यह ठहराव तब तक कायम रहेगा जब तक भारत में अंग्रेजी की प्रतिष्ठा बनी रहती है। ठहराव तोड़ने के लिए आवश्यक है कि अंग्रेजी को पद और प्रतिष्ठा की भाषा से हटा दिया जाय और राष्ट्रभाषा को उससे जोड़ दिया जाय। जब हिन्दी भारतमाता की वाणी बन जायेगी तो उसके साथ सभी भारतीय भाषाओं के विकास का नया युग प्रारम्भ हो जायेगा और उनके संबंधों में प्रगाढ़ता आ जायेगी। भारतीय राजनीति का दुर्भाग्य रहा कि उसके सपूतों ने (डाक्टर राममनोहर लोहिया को छोड़कर) टण्डन जी की भाषा नीति को आगे बढ़ाने में पुरुषार्थ नहीं दिखाया। परिणामतः

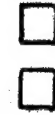
हिन्दी राष्ट्र भाषा बनने के बाद भी अभी तक राष्ट्रवाणी नहीं बन पायी है। टण्डन जी को हिन्दी की इस दशा का अनुमान बहुत पहले हो गया था। जब वे रोग-शय्या पर जीवन-मृत्यु से संघर्ष कर रहे थे उस समय भी उनका मन हिन्दी को लेकर चिंतित रहा। वे हर मिलने वालों से लिखकर हिन्दी की सेवा के लिए आग्रह करते रहे। डाक्टरों ने उन्हें बोलने से मना कर दिया था। डाक्टर रामकुमार वर्मा से लिखकर उन्होंने कहा, "संसद में तो हिन्दी स्वीकृत हो गई लेकिन एक वोट से रोमन अंक जीत गया। देवनागरी लिपि पर यह एक विदेशी छाया है, इसे कौन दूर करेगा ?" यह प्रश्न आज भी हिन्दी प्रेमियों के सामने चुनौती के रूप में खड़ा है।

सार्वजनिक जीवन की तरह टण्डन जी ने अपने व्यावसायिक जीवन में भी जीवन का मापदण्ड स्थापित किया। जीविका के लिए अपनाये गये व्यवसाय को उन्होंने कभी व्यवसाय नहीं समझा; सेवाभाव से उसका संपादन किया। जीविका के लिए चुना गया कार्य चाहे वकालत का रहा हो या पत्रकारिता का अथवा पंजाब नेशनल बैंक का सचिव पद, उन्होंने सर्वत्र अपने कर्त्तव्यनिष्ठा का परिचय दिया। वकील के रूप में उन्होंने उन्हीं मुकदमों को स्वीकार किया जिनका संबंध सच्चाई से रहा। झूठे मुकदमों को उन्होंने न केवल अस्वीकार किया अपितु उनसे संबंधित व्यक्तियों को ऐसे मुकदमों से विरत रहने के लिए प्रोत्साहित किया। इस दृष्टिकोण के कारण उन्हें आजीवन आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, परन्तु उन्होंने कभी अपने दृष्टिकोण से भिन्न परिस्थितियों के साथ समझौता नहीं किया। ध्रुव की तरह अपने विश्वास पर अटल रहे।

टण्डन जी को अपने सार्वजनिक और व्यक्तिगत जीवन में जो कुछ मिला, वह उनके निजी परिश्रम का फल रहा, उसमें किसी का कहीं से कोई दाय नहीं है। साधन के रूप में उनके पास मध्यवर्गीय परिवार की समस्याओं को झेलने के कारण उत्पन्न जुझारू प्रवृत्ति और पिता सालिकराम टण्डन से प्राप्त आध्यात्मिक भावना रही। इन्हीं दोनों के बल पर उन्होंने राम की तरह जीवन-समुद्र का तरण किया और अपनी उपलब्धियों द्वारा सिद्ध कर दिया कि साधनों के अभाव में भी आत्मबल द्वारा निश्चित लक्ष्य तक पहुंचा जा सकता है।

टण्डन जी सही माने में आधुनिक युग के ऋषि थे। उनमें एक ही

साथ राजनेता की तेजस्विता, ऋषि की कोमलता और बुद्धिजीवी की चेतना का सुन्दर समन्वय था। इनके कारण निर्मित उनके विचार और उसके द्वारा संपादित कार्य न केवल उनकी राजनीतिक निर्भीकता और कर्मठता का परिचय देते हैं बल्कि उनकी उन आस्थाओं को वाणी देते हैं जिसमें वे बौद्धिकता को भारतीय संस्कृति का प्राण मानते थे। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति के ह्रासमान मूल्यों की रक्षा हम बौद्धिकता द्वारा ही कर सकते हैं। उसमें अन्य संस्कृतियों के विचारों और विश्वासों को पचाने की अद्‌भुत क्षमता है। अपनी इस विशेषता के कारण वह अनेक आघातों के बाद भी जीवित रह सकी है। आज जब हमारे सांस्कृतिक मूल्यों पर विभिन्न दिशाओं से आघात हो रहे हैं, हमारे नैतिक मूल्य ह्रासमान हैं, पदलिप्सा के लिए चरित्र को गिरवी रख दिया गया है और राजनीति स्वार्थपरता की भावना में आकण्ठ निमग्न है, ऐसे समय में टण्डन जी के विचार, उनकी जीवनचर्या, उनकी सादगी एवं उनके कार्य हमारे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं; आवश्यकता उन्हें ग्रहण करने की है और उनके पदचिन्हों पर चलने की है। आज की पीढ़ी के लिए भले ही टण्डन जी के विचार और कार्य 'सुपरमैन' जैसा लगे, पर यह सत्य है कि उसका तथा उसके जातीय जीवन का कल्याण उन्हीं के पदचिन्हों पर चलने से संभव है। उन्हें पाकर भारतीय राजनीति और भारत का सार्वजनिक जीवन निश्चय ही गौरवान्वित हुआ है।



मुद्रक : वार्ष्णेय कम्पोजिंग एजेंसी, आनन्द पर्वत, नई दिल्ली-५